

कनककलशयुक्तं भक्तिशोभा-सनाथं

क्षिति-विरचित-शय्यं कौतुकागारमागात् ॥ (स० ७ श्लो० १४)

विवाहोपरान्त चन्द्रशेखर भगवान् शंकर ने मण्डपस्थ महा-महान् प्राज्ञों को दा करके पार्वती को हाथ से पकड़े हुए स्वर्ण-कलश से युक्त पुष्प-सुसज्जित थिबी पर' रचित शय्यावाले कौतुकागार (कैलिभवन) में प्रवेश किया।

मिथिला में विवाहोत्तर चतुर्थी कर्म से पूर्व तीन रात तक कलश कदली-म्हादि बहुचित्रित कौतुकागार (कोहबर घर) में 'भूमिस्थ शय्या' पर ही शय्या वर को एकत्र (अंगस्पर्श-वर्जित सुलाते हैं। वहाँ प्रतिदिन वर, वधू के वायें हाथ की कनिष्ठकांगुलि को अपने वायें हाथ की कनिष्ठकांगुलि में पकड़ कर पाये-पीछे होते हुए शनैः-शनैः वधू को कौतुकागार में ले जाते हैं। महाकवि अपने इसी मिथिला-संप्रदाय को ध्यान में रखकर उपर्युक्त श्लोक की रचना की है।

(त्र) महाकवि ने मिथिलाचारानुसार विवाहोपरान्त पार्वती के साथ गंगान शंकर को एक महाना तक ससुराल में रहने को लिखा है—

यमिन्द्रिय-मुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।

लिराज-भवने सहोमया मासमात्रमवसत् वृषध्वजः ॥ (स. ८ श्लो. २०)

(इस प्रकार इन्द्रियों के मुख के मार्ग—संभोग का सेवन करके भगवान् शंकर ने गङ्गा के कामदेव को कृत-कृत्य कर दिया और पार्वती के साथ हिमालय घर में पूरा महाना बिता दिया।)

यह भी मिथिला की संस्कृति के अनुरूप ही है। मिथिल के सिवा दूसरे किसी भी संप्रदाय के लोग विवाहोत्तर द्विरागमन के पूर्व—इतने दिनों तक ससुराल में नहीं रहते और न वहाँ सुहागरात मनाते हैं।

३—रघुवंश—मिथिला की संस्कृति ऐसी है कि कन्यादान-कर्ता जब एक घर के हाथों में कन्यादानोदक नहीं छोड़ता, तब तक कन्या को अपने पति या शरीर-स्पर्श करने का भी अधिकार नहीं होता, माला पहनाना दूर रहा। अपनी इसी मिथिला की संस्कृति को ध्यान में रखकर महाकवि कालिदास इन्दुमती स्वयंवर में, राजा अज के गले में इन्दुमती के हाथों से माला नहीं पहिनवाकर धात्री (सुनन्दा) द्वारा पहिनवाते हैं। देखिए—

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।

आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥

(स० ६ श्लो० ८३)

(करभ के समान सुन्दर जांघों वाली उस इन्दुमती ने मंगलचूर्ण अर्थात् लङ्कुम से गौर (अरुण) वर्ण की माला, जो इन्दुमती के प्रेमानुराग-स्वरूप ही

है, उसे अपनी धाई सुनन्दा के हाथों द्वारा रघु-पुत्र महाराज अज के गले में यथास्थान पहनवा दिया ।)—कु० इन्दुमती नहीं पहनायी । इससे मैथिल संस्कृति स्पष्ट झलक रही है ।

(सीता-स्वयंवर में सन्त तुलसी ने अपनी सरयूपारीण संस्कृति के अनुरूप भगवान् राम के गले में सीता द्वारा ही माला पहनवायी है ।) इत्यलमधिकेन ।

कालिदास के ग्रन्थ

कालिदास के रचित ग्रन्थों के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि दो महाकाव्य—रघुवंश और कुमारसंभव, एक खण्डकाव्य—मेघदूत और तीन नाटक—अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र, कालिदास के रचे हुए निर्विवाद माने जाते हैं । इनके अलावा ऋतुसंहार और श्रुतबोध भी कालिदास की रचना कही जाती है ।

दिलीपकर्तृक गोसेवा-वर्णन

‘कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गौ की सेवा से ही आपको पुत्र-दर्शन होगा’ गुरु वसिष्ठ के ऐसा कहने पर दूसरे दिन प्रातःकाल राजा दिलीप नन्दिनी को आगे करके उनके पीछे-पीछे चराने के लिए गोसेवार्थ आश्रम में वन को जल नदों । उनके पीछे रानी सुदक्षिणा और राजा के अनुचर (अंगरक्षक) वगैरह भी चले, पर राजा ने सुदक्षिणा सहित उन सभी अनुचरों को वनप्रान्त से छोटा दिया । वन में राजा दिलीप कोमल-कोमल हरी-हरी घासों के कवलों से, शरीर के खजलाने से एवं शरीर पर से वनमक्षिकाओं के उड़ाने से तथा वन में नन्दिनी के रुकने पर रुकते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर बैठते हुए, इस प्रकार छाया की तरह नन्दिनी की सेवा करते थे । दिन के बीत जाने पर नन्दिनी के पीछे-पीछे जब राजा दिलीप आश्रम की लौटते थे तो उस समय छोटे-छोटे जलाशयों से निकले हुए वनले सूकरों के झुण्डों से तथा अपने अपने निवास-वृक्षों पर बैठे बादलों की ओर देख रहे मयूरों एवं हरिणों के झुण्ड जिस पर बैठे थे ऐसे हरित बाल-तृणों से भी हरे-भरे, याने सर्वत्र हरित ही हरित वन-प्रदेश दिखाई देता था । आश्रम में आ जाने पर नन्दिनी नवजात बछड़े के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होने पर भी स्थिरतापूर्वक सुदक्षिणा की पूजा और प्रदक्षिणादि सत्कार को ग्रहण कर लेती थी । वन से आने पर राजा दिलीप गुरु-पत्नी अरुन्धती सहित गुरुचरणों के प्रणामोत्तर सायंकृत्य समाप्त करके गौ-दोहन के पश्चात् बैठी हुई उस नन्दिनी की रात्रि-सेवा में पुनः जुट

जाते थे। इस प्रकार गुरु वसिष्ठ से प्रदिष्ट संयम-नियम को धारण किये हुए राजा दिलीप के गो-सेवाव्रत के २१ दिन बीत गये।

सिंह-दिलीप का संवाद

एक दिन दिलीप की भक्ति की परीक्षा करने लिए नन्दिनी हिमालय की गुफा में घुस कर माया-निर्मित बनावटी सिंह से आक्रान्त होकर बहुत जोर से चिल्ला उठी। उसके कण्ठ आर्तनाद को सुनकर दिलीप नन्दिनी को दबोच कर उसके शरीर पर चढ़े हुए उस सिंह को तुरन्त मारने के लिए तरकस से बाण निकालने लगे, पर उनका हाथ बाण से चिपक गया। इससे राजा दिलीप किर्कर्तव्य-विमूढ़ हो उठे। यह देख वह सिंह मनुष्य की बोली में कहने लगा—

हे महीपाल ! मेरे मारने का सारा प्रयास तुम्हारा व्यर्थ हो जायगा। मुझे शंकर का 'कुंभोदर' नामक सेवक समझो। इस पुरोवर्ती देवदारु वृक्ष को देखते हो, इसे माता पार्वती ने सुवर्ण-कलश से सींच-खींच कर पाला है। इसी की रक्षा के लिए मैं यहाँ रखा गया हूँ। भगवान् शंकर ने समीप में आ जाने-वाले प्राणियों पर ही अपना जीवन-निर्वाह करने को मुझे कहा है। मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ। आज व्रतान्त-नारणा की तरह यह गौ मुझे प्राप्त है।

यह सुनकर राजा दिलीप ने कहा—हे मृगेन्द्र ! भगवान् शंकर और गुरु वसिष्ठ-दोनों ही मेरे सूर्यवंश के पूज्यतम हैं। यदि समीप में आयी हुई इस गौ से ही अपनी क्षुधा को शान्त करते के लिए आप अडिग हैं तो समीप में आय हुए मेरे शरीर से ही अपनी क्षुधा शान्त कर लें और इस गौ को छोड़ दें। यह सुनते ही विहंस कर सिंह ने कहा—हे प्रजानाथ ! प्राण देने का यह तुम्हारा विचार मूर्ख के समान प्रतीत होता है। राजन् ! तुम तो इस गौ के बदले गुरु को करोड़ों गोएँ देकर सन्तुष्ट कर सकते हो। इस प्रकार सिंह जब कह रहा था तब जमीन पर बाँधी करवट गिरी हुई नन्दिनी अपनी खुली कातर दायी एक आँख से राजा दिलीप को देख रही थी, उससे राजा अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। राजा दिलीप ने कहा—हे मृगेन्द्र ! (पृ० ८०) दीन-दुखियों की मनः-कामना को पूर्ण करने वाले आशुतोष भगवान् शंकर सर्वोपरि हैं, आप उन्हीं के सेवक हैं, इस गौ को छोड़ दीजिये और लीजिए, गौ के बदले मैं अपना शरीर अर्पण करता हूँ—यह कह राजा दिलीप आँखें मूँद कर सिंह के सामने मांसपिण्ड की तरह घुटने टेक दिये। फिर क्या था ? आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी माया-मृगेन्द्र अलक्षित हो गया और नन्दिनी ने राजा दिलीप को पुत्र-प्राप्ति रूप वरदान दे दिया।



श्लोकानुक्रमणिका

अथ नयनसमुत्थ	श्लो० सं० ७५	निशम्य देवानु	श्लो० सं० ५२
अथ प्रजानामधिपः	१	पुरन्दरश्रीः पुर	७४
अथान्धकारं गिरि	४६	पुरस्कृता वर्त्मनि	२०
अथैकधेनोरपराध	४९	पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिज्ञं	१३
अन्येद्युरात्मानुचरस्य	२५	प्रदक्षिणीकृत्य पयः	२१
अमुं पुरः पश्यसि देव	३६	प्रदक्षिणीकृत्य हुतं	७१
अल महीपाल तव	३४	प्रातर्यथोक्तं व्रतपारणा मे	७०
आपीनभारोद्वहन	१८	बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्ध	३२
आस्वादयद्भिः कवले	५	भक्त्या गुरो मय्यनु	६३
इति प्रगल्भं पुरुषा	४१	भवानपीदं परवानपेति	५६
इत्थं क्षितीशेन वशी	६७	भूतानुकम्पा तव	४८
इत्थं व्रतं धारयतः	२५	मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखा	१०
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृताय	६१	मान्यः स मे स्थावर	४४
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं	२६	लताप्रतानोदग्रथितैः	८
एतावदुक्त्वा विरते	५१	वत्सस्य होमार्थविधे	६६
कण्डूयमानेन कटं	३७	वत्सोत्सुकापि स्तिमि	२२
कथं नु शक्योऽनुनयो	१४	वसिष्ठधेनोरनुयायि	१९
किमप्यहिंस्यस्तव	५७	वामेतरस्तस्य कर	२१
कैलासगौरं वृषमारुक्षो	३५	विशिष्टपाश्र्वानुचरस्य	९
क्षतात् क्लृप्त्रायात	५३	व्रताय तेनानुचरेण	४
गुरोः सदारस्य निपीडय	२३	शशाम वृष्ट्यापि	१४
तं विस्मितं धेनुर्वाच	६२	श्रोत्राभिरामध्वनिना	७२
ततः समानीय स मानि	६४	स कीचकैर्मारुतपूर्णं	१२
तदाप्रभृत्यैव वनद्विपानां	३८	सञ्चारपूतानि दिगन्त	१५
तद्रक्ष कल्याणपरं	५०	सन्तानकामाय तथे	६५
तमार्यं गृह्यं निगृहीत	३३	स त्वं निवर्तस्व विहाय	४०
तमाहितीत्सुक्यमद	७३	स त्वं मदीयेन शरीर	४५
तस्मिन् ऋणे पालयितुः	६०	स नन्दिनीस्तन्यमनि	६७
तस्याः खुरन्यासपवित्र	२	स न्यस्तचिह्नमपि	७
तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः	६८	स पल्वलोत्तीर्णवराह	१७
तस्यालमेषा क्षुधितस्य	३७	स पाटलायां गवि	२९
तां देवतापित्रतिथि	१६	सम्बन्धमाभाषणपूर्वं	५८
तामन्तिकन्यस्तबलि	२४	संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र	४३
धनुर्भृतोप्यस्य दयाद्रं	११	सा दुष्टप्रधर्षा मनसा	२७
निवर्त्य राजा दयितां	३	सेयं स्वेदहार्पण ५५ स्थितः स्थिता ६	

॥ श्रीः ॥
सुधिशं मणिनिबारी
रघुवंशमहाकाव्यम्

‘सञ्जीविनी’ सहित ‘इन्दुमती’ व्याख्योपेतम्



द्वितीयः सर्गः

✓ अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।

वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥

सञ्जीविनी

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासेन दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।

मन्दस्मिर्तनिन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनमुन्दरि ! त्वाम् ॥

✕ सञ्जीविनी—अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिण्या प्रतिग्राहयिष्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोत्ताम्य । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । ‘अशं आदिभ्योऽच्’ इत्यच्प्रत्ययः । ‘पीता गावो मुक्ताः ब्राह्मणाः’ इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम् । ‘क्रियार्थोपपदस्य च कर्मेणि स्थानिनः’ इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्तवान् । जायापदमामर्थ्यात् सुदक्षिण्यायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । यथा हि श्रुतिः—‘पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥’ इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । अस्मिन् सर्गे वृत्तमुपजातिः—‘अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजी पादो यदोयावृपजातयस्ताः’ । ✕

इन्दुमती

✓ अन्वयः—अथ यशोधनः प्रजानाम् अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् पीतप्रतिबद्धवत्साम् ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।

वाच्यपरिवर्तनम् — अथ यशोधनेन प्रजानामधिपेन जायाप्रतिग्राहितगन्ध-
माल्यां पीतप्रतिबद्धवत्सां ऋषेः धेनुम् वनाय मुमोच ।

व्याख्या—अथ=निशावसानानन्तरम्, यशोधनः=कीर्तिवित्तः, प्रजानां=
जनानाम्, अधिपः=स्वामी (राजा दिलीपः), प्रभाते=प्रातःकाले, जायाप्रति-
ग्राहितगन्धमाल्यां=पत्नीसुदक्षिणास्वीकारितचन्दनपुष्पमालाम्, पीतप्रतिबद्धवत्सां=
दुग्धपानोत्तरनिवद्धतर्णकाम्, ऋषेः=वसिष्ठस्य, धेनुं=नवप्रसूतिकाम् गां=
नन्दिनीम्, वनाय=विपिनाय, मुमोच=(बन्धनात्) मुक्तवात् ।

व्युत्पत्तिः—अथ (रात के बीतने पर) । यशोधनः (कीर्ति को ही धन
मानने वाले)=यशः, (कीर्तिः) एव धनं (वित्तः) यस्य सः (बहु०) । प्रजा-
नामधिपः, (प्रजाओं के स्वामी दिलीप ने) । प्रभाते (प्रातःकाल में) । जाया-
प्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् (पत्नी सुदक्षिणा द्वारा पूजन में स्वीकार कराये गये
चन्दन तथा माला को धारण की हुई)=गन्धश्च माल्यं च इति गन्धमाल्ये
(द्वन्द्व०), जायया (पत्न्या) प्रतिग्राहिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहित-
गन्धमाल्या, ताम् (बहु०) । पीतप्रतिबद्धवत्साम् (दूध पी चुकने के अनन्तर
जिसका बछड़ा बाँध दिया गया है ऐसी)=पीतः (पश्चात्) प्रतिबद्धः (संयन्त्रितः)
वत्सः, यस्याः सा पीतप्रतिबद्धवत्सा, ताम् (बहु०) । ऋषेः धेनुम् (वसिष्ठ की
धेनु को । वनाय मुमोच (जंगल के लिए खोल दिया) ।

कोशः—अथ='मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्त्येष्वथो अथ' इत्यमरः ।
प्रजानां='प्रजा स्यात् सन्तती जने' इत्यमरः । अधिपः='प्रभु परिवृद्धोऽधिपः'
इत्यमरः । प्रभाते='प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्यूषसी अपि । प्रभातं च—'
इत्यमरः । जाया०='भार्या जायाज्य पृं भूमि दाराः स्यात् कुटुम्बिनी' इति,
'माल्यं मालां स्रजो मूर्ध्नि' इति चामरी । यशोधनः='यशः कीर्तिः समज्ञा च'
इत्यमरः । धेनुं='धेनु स्यान्नवसूतिका' इत्यमरः ।

हिन्दी—रात के बीतने पर प्रातःकाल प्रजापालक तथा कीर्ति-प्रतिष्ठा
को ही धन मानने वाले राजा दिलीप ने पत्नी रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन
में स्वीकार कराये गये चन्दन, मालादि को धारण की हुई तथा दुग्ध-पान
कर चुकने के पश्चात् जिसका बछड़ा बाँध दिया गया है, ऐसी ऋषि वसिष्ठ
की नई व्याई नन्दिनी नाम की गौ को जंगल में चरने के लिये खोल
दिया ॥ १ ॥

h

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्त्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥

मञ्जीविनी — तस्या इति । पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वरि-
ण्यः 'स्वरिणी पांसुला' इत्यमरः । 'सिद्धमादिष्यश्च' इति लक्षप्रत्ययः अपांसुलानां
पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी । खुरन्यासैः
पवित्राः पांसवो यस्य तम् । 'रेणुद्वयोः स्त्रियां घूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः'
इत्यमरः । तस्या घेनोर्मार्गम् । स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेय-
मिव अन्वगच्छदनुसृतवती च । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा
साऽपि गोकुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये
षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात् । पांसुलपथप्रवृत्तावप्यपांसुलानामिति
विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ।

अन्वयः—अपांसुलानां धुरि कीर्त्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यास-
पवित्रपांसुं तस्याः मार्गं स्मृतिः, श्रुतेः अर्थम् इव अन्वगच्छत् ।

वाच्यं—अकीर्त्तनीयया मनुष्येश्वरधर्मपत्न्या खुरन्यासपवित्रपांसुः मार्गः
स्मृत्या श्रुतेः अर्थः इव अन्वगम्यत ।

व्याख्या—अपांसुलानां = दोषरहितानाम्, (पतिव्रतानाम्) धुरि = अग्रे
कीर्त्तनीया = वर्णनीया, मनुष्येश्वरधर्मपत्नी = नरपतिपाणिगृहीती (दिलीपधर्म-
पत्नी सुदक्षिणा), खुरन्यासपवित्रपांसुं = शफप्रक्षेपपूतरेणुम्, तस्याः = नन्दिन्याः
मार्गं = पन्थानम्, स्मृतिः = धर्मसंहिता (मन्वादिवाक्यम्), श्रुतेः = वेदस्य, अर्थम् =
अभिधेयम्, इव = यथा तथा, अन्वगच्छत् = अन्वसरत् ।

व्युत्पत्तिः—अपांसुलानां धुरि (पतिव्रताओं में अग्रगण्या) = पांसवाः
(दोषाः) सन्ति आसाम् इति पांसुलाः (बहु०) न पांसुलाः अपांसुलाः, (नञ्०)
तासाम्, कीर्त्तनीया (प्रशंसनीया) । मनुष्येश्वरधर्मपत्नी (नरपति राजा दिलीप
की पाणिगृहीती भार्या सुदक्षिणा ने) = मनुष्याणाम् ईश्वरः मनुष्येश्वरः (ष०
त०), धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी (ष० त०), मनुष्येश्वरस्य धर्मपत्नी, मनुष्येश्वर-
धर्मपत्नी, सा, (ष० त०) खुरन्यामपवित्रपांसुं (खुरों के रखने से पवित्र घूलि
वाले) = खुराणां न्यासाः (निःक्षेपाः), खुरन्यासाः (ष० त०), खुरन्यासैः
पवित्राः पांसवः (घूलयः) यस्य स खुरन्यासपवित्रपांसुः, तम् (बहु०) । तस्याः

मार्गं (उस नन्दिनी के मार्ग को (अनुसरण किया) जैसे) । स्मृतिः (मनु-
स्मृत्यादि) । श्रुतेः (वेद के) अर्थम् इव (अर्थ को जैसे) । अन्वगच्छत् (अनु-
सरण करती है) ।

कोशः—खुरन्यास-पवित्रपांसु=‘शफः क्लीवे खुरः पुमान्’ इति, पवित्रः
प्रयतः पूतः’ इति, रेणुद्वयोः स्त्रियां घूलिः पांसुनां न द्वयो रजः’ इति चामराः ।
पांसुलानां=‘स्वैरिणी पांसुला स्यात्’ इत्यमरः । श्रुतेः=‘श्रुतिः स्त्री वेद
आम्नायः’ इत्यमरः । अर्थम्=‘अर्थोऽभिधेयैर्वस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु’ इत्यमरः ।
स्मृतिः=‘स्मृतिस्तु धर्मसंहिता’ इत्यमरः ।

हिन्दी—पतिव्रताओं में श्रेष्ठ (अग्रगण्या) राजा दिलीप की धर्मपत्नी
रानी सुदक्षिणा (दिलीप के साथ वन में चलने के लिए जाती हुई उस) नन्दिनी
गौ के खुरों के रखने से पवित्र घूलिवाले मार्ग का (‘तपोवन पर्यन्त द्र० प्र०
सर्ग श्लो० ९०) उसी प्रकार अनुगमन करती हुई जा रही थी जैसे मन्वादि
की स्मृतियाँ वेद के अर्थ का अनुगमन करती हैं (रास्ते में उड़ती हुई नन्दिनी
की पग-घूलि को मस्तक में लगाती हुई सुदक्षिणा जा रही थी) ॥२॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।

पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥

सञ्जीविनी—निवर्त्येति । दयालुः कारुणिकः । ‘स्याद्दयालुः कारुणिकः’
इत्यमरः । ‘स्पृहृष्टहि०’ इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिमनोज्ञः ‘सुरभिः
स्यान्मनोज्ञेऽपि’ इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां
नन्दिनीम् । धरन्तीति धराः, पचाद्यच् । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । ‘स्त्री-
स्तनाब्जो पयोधरो’ इत्यमरः । अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमाना पयोधरी-
भूताः । अभूततद्भावे च्विः । ‘कुगतिप्रादयः’ इति समासः पयोधरीभूताश्च-
त्वारः समुद्रा यस्यास्ताम् । ‘अनेकमन्यपदार्थे’ इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो
बहुव्रीहिः । गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः,
धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ता ताम् ।
दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ।

अन्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां गोरूपधराम् उर्वीम् इव जुगोप ।

वाच्य० — दयालुना सुरभिणा राज्ञः सा सौरभेयी पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा
गोरूपधरा उर्वी इव जुगुपे ।

व्याख्या — दयालुः = कारुणिकः, यशोभिः = कीर्तिभिः, सुरभिः = मनोज्ञः,
राजा = दिलीपः, (तपोवनप्रदेशात् प्राक्) तां = नन्दिन्यनुगामिनीम्, दयितां =
वल्लभां (सुदक्षिणाम्), निवर्त्य = परावर्त्य (वसिष्ठाश्रमं सम्प्रेष्य), सौरभेयीं =
कमधेनुसुतां (नन्दिनीम्), पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां = स्तनीभूतचतुःसागरां,
गोपक्षे — दुग्धतिरस्कृतचतुःसागराम्, गोरूपधरां = गोरूपिणीम्, उर्वीम् =
पृथिवीम्, इव = यथा, जुगोप = ररक्ष।

व्युपत्तिः — दयालुः (दयायुक्त) = दया अस्ति अस्याम् इति दयालुः ।
सुरभिः (सत्कीर्तियों से सुशोभित) राजा (दिलीप) । तां दायितां (उस पत्नी
सुदक्षिणा को) । निवर्त्य (लौटा कर) । सौरभेयीं (नन्दिनी को) = सुरभेः
(कामधेनोः) अपत्यं स्त्री सौरभेयी, ताम् (ष० त०) । पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां
(धन के दूध की अधिकता से चारों समुद्रों को तिरस्कृत करने वाली) = धर-
न्तीति धराः, पयसां धराः पयोधराः = (स्तनाः) (ष० त०) न पयोधराः
अपयोधराः (नञ्०) पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः (प्रादिस०), पयो-
धरीभूताः चत्वारः समुद्राः यस्याः सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा ताम् (बहु०);
धेनुपक्षे — पयसा (दुग्धेन) अधरीभूताः (तिरस्कृताः) चत्वारः समुद्राः यस्याः
सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा, ताम् (बहु०) । गोरूपधरां (गौ के रूप में उप-
स्थित) = धरतीति धरा, गोः रूपं गोरूपम् (ष० त०), गोरूपस्य धरा गोरूप-
धरा, ताम् (ष० त०) । उर्वीम् इव (पृथिवी के समान) । जुगोप (रक्षा
करने लगे) ।

कोशः — दयितां = 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः । दयालुः = 'स्याद्
दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । सौरभेयीं = 'माहेयीं सौरभेयीं गौः' इत्यमरः ।
'सुरभि स्यान्मनोज्ञापि' इति विश्वः । पयोधरी० = 'स्त्रीस्तनाब्दी पयोधरी'
इत्यमरः । उर्वी = 'वसुधोर्वी वसुधरा' इत्यमरः ।

हिन्दी — दयालु तथा कीर्ति से प्रख्यात राजा दिलीप पत्नी सुदक्षिणा को
(तपोवन के निकट से) लौटा कर, जिसके दूध की अधिकता से चारों समुद्र

तिरस्कृत हैं, ऐसी उस नन्दिनी को —चारों समुद्रों को थनों के रूप में धारण की हुई गो के रूप में उपस्थित पृथिवी की तरह रक्षा करने लगे ॥३॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।

न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥

सञ्जीविनी—व्रतायेति । व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः । शेषत्वं सुदक्षिणाऽपेक्षया । कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरान्न । कुतः । हि यस्मात् कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ।

अन्वयः—व्रताय धेनोः अनुचरेण तेन शेषः अनुयायिवर्गः अपि न्यषेधि, तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न । हि मनोः प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता (भवति) ।

वाच्य०—धेनोः अनुचरः स शेषपि अनुयायिवर्गं न्यषेधीत् । तस्य शरीररक्षा अन्यतः न (भूयते) मनो प्रसूतया स्ववीर्यगुप्तया (भूयते) ।

व्याख्या—व्रताय = नियमाय, धेनोः = नन्दिन्या गोः, अनुचरेण = सेवकेन तेन = राजा दिलीपेन, शेषः = अवशिष्टः, अनुयायिवर्गः = अनुचरवृन्दम्, अपि = समुच्चये, न्यषेधि = न्यवर्ति (परावर्तितः), तस्य = दिलीपस्य, शरीररक्षा = गान्धर्वरक्षणम्, च = तु, अन्यतः = अन्यस्मात् भृत्यादितः, न = नैव (भवति) हि = यतः, मनोः = वैवस्वतनामकमनोः, प्रसूतिः = सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता = निजपराक्रमरक्षिता (भवति) ।

व्युत्पत्तिः—व्रताय (व्रतपालन के लिए) । धेनोः (नन्दिनी के) । अनुचरेण = अनु (पश्चात्) चरति इति अनुचरः (सेवकः) तेन । तेन (उन दिलीप द्वारा) । शेषः (अवशिष्टः) । अनुयायिवर्गः अपि (नोकर-चाकर भी) = अनु (पश्चात्) यान्ति इति अनुयायिनः, अनुयायिनां वर्गः अनुयायिवर्गं (ष० त०) न्यषेधि (लौटा दिये) । तस्य (उन दिलीप की) । शरीररक्षा (देह-रक्षा) = शरीरस्य रक्षा शरीररक्षा (ष० त०) । च के लिए । अन्यतः न (दूसरे की आवश्यकता न थी) । हि (क्योंकि) । मनोः प्रसूतिः । (वैवस्वत मनु के

सन्तान = राजा लोग) । स्ववीर्यगुप्ता (अपने ही बल से रक्षित हैं) — स्वस्य वीर्यं स्ववीर्यम् (प० त०), स्ववीर्येण गुप्ता (तृ० त०) सा ।

कोशः — व्रताय = 'नियमो व्रतमस्त्री' इत्यमरः । अनुचरेण = 'अनुप्लवः सहायश्चानुचरोभिसरसमाः' इत्यमरः । धेनोः = धेनुगोमात्रके, दोग्रघाम्' इत्यमरः । स्ववीर्यगुप्ता = 'वीर्यं प्रभावे शुक्रे च तेजः सामर्थ्ययोरपि' इति मेदिनी । प्रसूतिः = 'प्रसूतिः प्रसवोत्पत्तिपुत्रेषु दुहितर्यपि' इत्यनेकार्थः ।

हिन्दी — नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाले गो-सेवा-व्रती राजा दिलीप ने रानी मुदक्षिणा को लौटाने के बाद बचे हुए अनुचरों (भृत्यों) को भी वहीं से लौटा दिया । राजा दिलीप की शरीररक्षा के लिए दूसरों की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सूर्यपुत्र महर्षि वैवस्वत-वंशोद्भव सूर्यवंशी राजा लोग अपने ही पराक्रम से अपनी रक्षा में समर्थ होते थे ॥४॥

✓ आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।

अव्याहृतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

सञ्जीविनी — आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वरः 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाजया राजः स सम्राट्' इत्यमरः । स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्घासैः 'घासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनेः । दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहृतैरप्रतिहृतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्द-गमनैश्च । तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः ।

अन्वयः — सम्राट् सः आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः कण्डूयनैः दंशनिवारणैः अव्याहृतैः स्वैरगतैः च तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ।

वाच्यं — सम्राज्ञा तेन तस्याः समाराधनतत्परेण अभावि ।

व्याख्या — सम्राट् = मण्डलेश्वरः, सः = राजा दिलीपः, आस्वादवद्भिः = रसवद्भिः (रुचिकरैः), तृणानां = घासानाम्, कवलैः = घासैः, कण्डूयनैः = शरीर-खर्जनेः, दंशनिवारणैः = नसकादिवनमक्षिकाऽपसारणैः, अव्याहृतैः = अप्रतिहृतैः, स्वैरगतैः च = स्वच्छन्दगमनैश्च, तस्याः = नन्दिन्याः, समाराधनतत्परः = सेवा-सक्तः, अभूत् = बभूव ।

व्युत्पत्तिः—सम्राट् (मण्डलेश्वर) = सम्यक् राजते (शोभते) इति सम्राट् । सः (वह दिलीप) । आस्वादवद्भिः (स्वाद से युक्त) = आस्वादः विद्यते येषु (कवलेषु) ते आस्वादवन्तः, तैः (बहु०) । तृणानां कवलैः (घासों के घासों से) । कण्डूयनैः (गात्र खुजलाने से) । दंशनिवारणैः (वनमक्षिकाओं के उड़ाने से) = दंशानां (वनमक्षिकाणां) निवारणानि दंशनिवारणानि तैः (५० त०) । अव्याहृतैः (बेरोक-टोक) = न व्याहृतानि अव्याहृतानि तैः (नब०) । स्वरैरगतैः (स्वच्छन्द गमन से) = स्वरैराणि (स्वच्छन्दानि) च तानि गतानि (गमनानि) स्वरैरगतानि, तैः (कर्म०) । च (भी) । तस्याः (उस नन्दिनी की) । समाराधनतत्परः (सेवा में तत्पर) = समाराधने तत्परः समाराधनतत्परः (४० त०) । अभूत् (हुए) ।

कोशः—कवलैः=घासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । दंशनिवारणैः = 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । स्वरैरगतैः = 'मन्द-स्वच्छन्दयोः स्वरैः' इत्यमरः । सम्राट् = 'यथेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाजया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । समाराधनतत्परः = 'आराधनं साधने स्यादवाप्नो तोषणेऽपि च' । प्रसिताऽसक्तौ' इति चामरी ।

हिन्दी—वे मण्डलेश्वर राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल-कोमल घासों के घासों से (खिलाने से), शरीर के खुजलाने से एवं शरीर पर से वनमक्षिकाओं को उड़ाने से तथा बेरोक-टोक (यथेच्छ) स्वच्छन्दता से वन में विचरण करने देने से उस नन्दिनी गौ की सेवा में असक्त (लगे हुए) थे ॥५॥

✓ स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासमबन्धधीरः ।

जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

सञ्जीविनी—भूपतिस्तां गां स्थितां सती स्थितिः सन् । स्थितिरुध्वंवि-स्थानम् । प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् । उपविष्टा-मित्यर्थः । 'भाषायां सदवसश्चुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । आसनबन्ध उपवेशने धीरः । स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः । जलमाददानां जलं पिबन्तीं जलाभिलाषी । जलं पिबन्नित्यर्थः । इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान् ।

अन्वयः—(सः) भूपतिः तां स्थितां स्थितः (सन्), प्रयाताम् उच्चलितः (सन्), निषेदुषीम् आसनबन्धधीरः (मन्), जलम् आददानाम् जलाभिलाषी (मन्) छाया इव ताम् अन्वगच्छत् ।

वाच्य०—भूपतिना सा स्थिता स्थितेन (सती) प्रयाता उच्चलितेन निषेदुषी आसनबन्धधीरेण, जलम् आददाना जलाभिलाषिणा, छाया इव अन्वगम्यत ।

व्याख्या—(सः) भूपतिः = पृथिवीश्वरः दिलीपः, तां = धेनुम् (नन्दिनीम्), स्थितां = निरुद्धाम्, स्थितः = निरुद्धः (सन्), प्रयातां = प्रस्थिताम्, उच्चलितः = प्रचलितः (प्रस्थितः) (सन्), निषेदुषीम् = उपविष्टाम् (आसीनाम्), आसनबन्धधीरः = आसनस्य बन्धः आसनबन्धः तस्मिन् आसनबन्धे (उपवेशने) धीरः (उपविष्टः) (सन्), जलम् = पानीयम्, आददानाम् = पिबन्तीम्, जलाभिलाषी = जलम् इच्छत् (पिबन् सन्), छाया इव = प्रतिबिम्बं यथा, अन्वगच्छत् = अनुसृतवान् ।

व्युत्पत्तिः—भूपतिः (दिलीप ने) भूवः पतिः भूपतिः (ष० त०) । तां स्थितां (उस नन्दिनी के रुकने पर) । स्थितः 'सन्' (रुकते हुए) । प्रयातां (चलने पर) । उच्चलितः 'सन्' (चलते हुए) । निषेदुषीम् (बैठने पर) । आसनबन्धधीरः 'सन्' (सावधानीपूर्वक बैठे हुए) आसनस्य बन्धः आसनबन्धः (ष० त०), आसनबन्धे (उपवेशने) धीरः (स्थिरः) आसनबन्धधीरः (स० त०) । जलम् आददानां (जल पीने पर) = आदत्ते इति आददाना (शानच्), ताम् । जलाभिलाषी 'सन्' (जल पीते हुए) = जलम् अभिलषितुं शीलम् अस्य असौ जलाभिलाषी । छायेव (छाया की तरह) । ताम् अन्वगच्छत् (उस नन्दिनी का अनुसरण किया) ।

कोशः—छायेव = 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बभनातपः' इत्यमरः ।

हिन्दी—चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप ने (वन में) उस नन्दिनी के रुकने पर रुकते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर (सावधान होकर) बैठते हुए, जल पीने पर जल पीते हुए (इस प्रकार) छाया की तरह उस नन्दिनी का अनुसरण किया (पल भर के लिए भी नन्दिनी से अलग नहीं होते थे ॥ ६ ॥

रघु ॥ २

✓ स न्यस्तचिह्नमपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
 आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥७॥

सञ्जीविनी—स इति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि
 यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम् 'सर्वथा राजे-
 वायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्वहिर-
 प्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र
 इव आसीत् ।

अन्वयः—न्यस्तचिह्नम् अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः सः
 अनाविष्कृतदानराजिः अन्तर्मदावस्थः द्विपेन्द्रः इव आसीत् ।

वाच्यं — राजलक्ष्मीं दधानेन तेन अनाविष्कृतदानराजिना अन्तर्मदाव-
 स्थेन द्विपेन्द्रेण इव अभूयत ।

व्याख्या—न्यस्तचिह्नमपि=परिहृतच्छत्रचामरादिलक्षणामपि, तेजोविशे-
 षानुमितां=प्रभावातिशयतक्रिताम्, राजलक्ष्मीं=नृपश्रियम्, दधानः=धारयन्,
 स=दिलीपः, अनाविष्कृतदानराजिः=बहिरप्रकटितमदरेखः (अत एव)
 अन्तर्मदावस्थः=अभ्यन्तरगतदानदशः, द्विपेन्द्रः=गजेन्द्रः, इव=यथा आसीत् ==
 अभूत् ।

शुण्डतीति—न्यस्तचिह्नमपि (राजचिह्नों को छोड़ देने पर भी) =
 न्यस्तानि (त्यक्तानि) चिह्नानि (छत्रचामरादिराजलक्षणानि) यस्या ता
 न्यस्तचिह्ना ताम् (बहु०) । तेजोविशेषानुमितां (अपने तेजों की अधिकता
 से जाती हुई) =तेजसः, विशेषः तेजोविशेषः (प० त०), तेजोविशेषेण
 अनुमिता तेजोविशेषानुमिता (तृ० त०) ताम् । राजलक्ष्मीं (राजलक्ष्मी
 को) =राज्ञः लक्ष्मी राजलक्ष्मी (प० त०) ताम् । दधानः (धारण किये
 हुए) । सः (वह राजा दिलीप) । अनाविष्कृतदानराजी (अप्रकटित मद-
 रेखा वाले) =न आविष्कृता (प्रकटिता) अनाविष्कृता (नञ्ः) दानस्य
 (मदस्य) राजिः (पंक्ति=रेखा) दानराजिः (प० त०) अनाविष्कृता
 दानराजिः यस्य सः (बहु०) । अन्तर्मदावस्थः (भीतर में स्थित मदावस्था
 वाले) =अन्तः मदावस्था यस्य सः (बहु०) । द्विपेन्द्रः इव (गजरा के
 ऐसा) =द्वाभ्यां (शुण्डतुण्डाभ्यां) पिवन्तीति द्विपाः, (गजाः) द्विपानाम्
 इन्द्रः द्विपेन्द्रः (प० त०) आसीत् (थे) ।

कोशः—न्यस्तचिह्नम्='कलङ्काङ्गी लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्'
इत्यमरः । दानराजिः—'गण्डः कटो मदो दानम्' इति, 'लेखास्तु राजयः' इति
चामरी । इव='न वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः । द्विपेन्द्रः—द्विरदोजेकपो
द्विपः । मतङ्गजो गजो नागः' इत्यमरः ।

हिन्दी—नन्दिनी-सेवा के समय राजा दिलीप छत्रादि राजचिह्नों को
छोड़ देने पर भी अपने तेजों की अधिकता से राजलक्ष्मी को धारण किए
हुए—प्रकट रूप से नहीं दिखाई दे रही है मद-रेखा जिसकी अर्थात् भीतर
में ही स्थित है, मदावस्था जिसकी ऐसे गजराज के समान मालूम पड़ते थे
(उनके आजानुवाद तथा विशाल भालादि आकृति से ही लोग उन्हें राजा
समझ जाते थे) ।

✓लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।

रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान् विनेष्यस्त्रिं दुष्टसत्त्वान् ॥८॥

सञ्जीविनी—लतेति । लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिर्द्व्यथिता
उत्तमय्य ग्रथिता ये केशास्तरूपलक्षितः । 'इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया । स
राजा । अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् । 'धनुर्पेन्द्र'
इत्यनङादेशः । मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद् रक्षणव्याजात् । वन्यान् वने भवान्
दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः ।
विनेष्यन् शिक्षयिष्यस्त्रिं दावं वनम् । 'वने च वनवल्ली च दावा दव इहेष्यते'
इति यादवः । विचचार वने चचारेत्यर्थः । देशकालावगन्तव्याः कर्मसंज्ञा
ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ।

अन्वयः—लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः (उपलक्षितः) सः अधिज्यधन्वा
(सन्) मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यन् इव दावं
विचचार ।

वाच्यः—तेन अधिज्यधन्वना (सता) दुष्टसत्त्वाम् विनेष्यन् इव
दावः विचरे ।

व्याख्या—लताप्रतानोद्ग्रथितैः=वल्लीकुटिलमृदुशाखादिभिरुत्तमय्य गुम्फितैः,
केशैः=कचैः (उपलक्षितः), सः=राजा दिलीपः, अधिज्यधन्वा=सञ्जघनु-
ष्मान्, (सन्=भवन्), मुनिहोमधेनोः=वसिष्ठहवनसाधनभूतायाः नन्दिन्याः,

रक्षापदेशात् = रक्षणव्याजात्, वन्यान् = वने भवान्, दुष्टसत्त्वान् = दुष्टजन्तून्,
विनेष्यन् = शिक्षयिष्यन्, इव = यथा, दावं = वनम्, विचचार = बभ्राम ।

व्युत्पत्तिः—लताप्रतानोदप्रथितैः (लताओं की लतड़ से उलझे हुए) =
लतानां प्रतानम् (कुटिलतन्तुः) लताप्रतानं, लताप्रतानेन उदप्रथिताः (उन्नमय्य
गुम्फिताः) लताप्रतानोदप्रथिताः (तृ० त०) तैः । केशैः (बालों से) । (उप-
लक्षितः = शोभितः) सः (वह राजा दिलीप) । अधिज्यघन्वा 'सन्' (धनुष
को ताने हुए) = अधि (आरोपितः) ज्या (मौर्वी) यस्य तत् अधिज्यम्
(बहु०) अधिज्यं धनुः यस्य (बहु०) सः । मुनिहोमघेनोः (ऋषि वसिष्ठ के
हवनभूत (घृतादि द्वारा उस नन्दिनी को) = होमस्य घेनुः (होमार्थं पालिता
गौः) होमघेनुः (ष० त०), मुनेः होमघेनुः मुनिहोमघेनुः (ष० त०) तस्याः ।
रक्षापदेशात् (रक्षा के बहाने) = रक्षायाः अपदेशः (व्याजः) रक्षापदेशः
(ष० त०) तस्मात् । वन्यान् दुष्टसत्त्वान् (जंगली दुष्ट जानवरों की) =
वने भवाः वन्याः तान् (स० त०), दुष्टाश्च ते सत्त्वाः दुष्टसत्त्वाः, (कर्म०)
तान् । विनेष्यन् इव (दण्ड देने के जैसा) विनेष्यतीति विनेष्यन् । विचचार
(जंगल में घूम रहे थे) ।

कोशः—लता = 'वल्ली तु प्रततिलता' इत्यमरः । केशैः = 'चिकुरः
कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः । अधिज्यघन्या = 'मौर्वी ज्या
शिञ्जनी गुणः' इति 'धनुश्चागौ घन्वशरासनकोदण्डकामुकम्' इति चामरी ।
दावं = 'वने च वनवल्ली च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः । दुष्टसत्त्वान् =
'द्रव्यामुष्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः ।

हिन्दी—(वन के जंगल-झाड़ों में विगथ चरती हुई नन्दिनी के पीछे-
पीछे चलने से) जंगली लताओं के टेढ़े मेढ़े लतड़ों से उलझे हुए गिर के
बालों से सुशोभित वे राजा दिलीप तने हुए धनुष को लिये गुरु वशिष्ठ की
हवनसामग्री (घृतादि) को देने वाली उस नन्दिनी की रक्षा के बहाने उस
वन के दुष्ट व्याघ्रादि जन्तुओं का शासन करने के लिए ही मानों वन में घूम
रहे थे (राजा दिलीप के तने हुए धनुष-बाणों को देख कर वन के हिंसक
प्राणी त्रस्त रहते थे—उत्पात नहीं मचाते थे) ॥ ८ ॥

‘विसृष्ट’—इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

✓ विसृष्टपाश्वानुचरस्य तस्य पाश्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।

उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥६॥

सञ्जीविनी—विसृष्टेति । विसृष्टाः पाश्वानुचराः पाश्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । ‘प्रचेता वरुणः पाशो’ इत्यमरः । अनुभावोऽनेन सूचितः । तस्य राज्ञः पाश्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् ‘खगबाल्यादिनोर्वयः’ इत्यमरः । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः । ‘आलोको जयशब्दः स्याद्’ इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावदन्निव । इत्युत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—विसृष्टपाश्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्य पाश्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दम् उदीरयामासुः हव ।

वाच्य०—पाश्वद्रुमैः तस्य आलोकशब्दः उदीरयामासुः ।

व्याख्या—विसृष्टपाश्वानुचरस्य = त्यक्तसमीपवर्तिसेवकस्य, पाशभृता = वरुणेन, समस्य = तुल्यस्य, तस्य = राज्ञः दिलीपस्य, पाश्वद्रुमाः = समीपवर्तिवृक्षाः, उन्मदानाम् = उत्कटमदानाम्, वयसां = पक्षिणाम्, विरावैः = कृषून्, आलोकशब्दम् = जयशब्दम्, उदीरयामासुः = कथयामासुः, हव = यथा ।

व्युत्पत्तिः—विसृष्टपाश्वानुचरस्य (समीपवर्ती सेवकों के छोड़ देने पर भी) अनुचरन्ति इत्यनुचराः, पाश्वयोः अनुचराः (ष० त०), पाश्वानुचराः, विसृष्टाः (त्यक्ताः) पाश्वानुचराः येन सः विसृष्टपाश्वानुचराः, (बहु०) तस्य । पाशभृता समस्य (वरुण के समान प्रभावशाली) = पाशं विभर्तीति पाशभृत् तेन पाशभृता तस्य (उन राजा दिलीप के) । पाश्वद्रुमाः (आसपास के वृक्षों ने) = पाश्वयोः द्रुमाः पाश्वद्रुमाः (ष० त०) ते । उन्मदानाम् (अत्यन्त मतवाले) = उदगतः (उत्कृष्टः) मदः येषां तानि = उन्मदानि, तेषाम् (बहु०) । वयसां (पक्षियों के) । विरावैः (शब्दों से) । आलोकशब्दम् (जय शब्द की = आलोकस्य शब्दः आलोकशब्दः, (ष० त०) तम् । उदीरयामासुः (उच्चारण किया) ।

कोशः—पाश्वद्रुमाः = ‘पाश्वर्मन्तिके, कक्षाऽधोवयवे चक्रोपान्तपशंसमूहयोः’ इत्यने० । ‘वृक्षो महीरुहः साखी विटपी पादपस्तरुः । अनोकहः कुटः

शालः पलाशी दुद्रुभागमाः' इत्यमरः । पाशभृता = 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । उन्मदानाम् = 'उन्मदस्तुन्मविष्णुः स्यात्' इत्यमरः । आलोकशब्दम् = 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति विश्वः । विरावैः = 'शब्दे-आरवारावसंराव-विरावाः' इत्यमरः । वयसां = 'खगवात्यादिनोर्वयः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(न्यवेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गं श्लो० ४) पाश्वर्तों सेवकों को वापस कर देने पर भी (तपोवन में) वरुण के सदृश प्रभावशाली राजा दिलीप के समीपवर्ती वृक्षों ने हर्षोन्मत्त पक्षियों के मधुर कूजन द्वारा जय शब्दों का उच्चारण किया (कर रहे हैं)—ऐसा मान हो रहा था ॥९॥

✓ मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

सञ्जीविनी—मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिता बाललताः, आरात्समीपेऽभिवर्तमानम् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः । स इवाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारालाजस्तैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा । ह सञ्जीवमागतमुच्चरतीति भावः ।

अन्वयः—मरुत्प्रयुक्ताः बाललताः आरात् अभिवर्तमानम्, मरुत्सखाभम् अर्च्यं तं प्रसूनैः अवाकिरन्, आचारलाजैः इव ।

वाच्य०—मरुत्प्रयुक्ताभिः बाललताभिः अभिवर्तमानः मरुत्सखाभः अर्च्यः सः प्रसूनैः पौरकन्याभिः अवकीर्यते ।

व्याख्या—मरुत्प्रयुक्ताः=वायुप्रेरिताः, बाललताः=बालमल्लयः, आरात्=समीपे, अभिवर्तमानम्=अभिविद्यमानम्, मरुत्सखाभं=वह्निःकान्तिसमम्, अर्च्यम्=पूज्यम्, तं=दिलीपम्, प्रसूनैः=पुष्पैः, अवाकिरन्=वदद्भिः । पौरकन्याः=नागरिकबालिकाः, आचारलाजैः=मङ्गलार्थकभृष्टधान्यैः, इव=यथा ।

व्युत्पत्तिः—मरुत्प्रयुक्ताः (वायु से प्रेरित)=मरुता प्रयुक्ताः मरुत्प्रयुक्ताः (तृ० त०), बाललताः (कोमल लताओं ने)=बालाश्च ताः लताः बाललता (कर्म०) । आरात् (समीप में) । अभिवर्तमानम् (स्थित)=अभि (अभिमुख) वर्तते इति अभिवर्तमानः, तम् । अर्च्यं तं (पूज्य उस दिलीप को) । प्रसूनैः

(फूलों से) । अवाकिरन् (वर्षा की) । पौरकन्याः इव (नगर की बालिकाओं के समान) = पूरे अवाः पौराः, पौराश्च ताः कन्याः पौरकन्याः ।

कोशः—मरुत्सखाभं = 'समीर-मारुत-मरुज्जगत्प्राण-समीरणाः' इति, 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इति चामरौ । आरात् = 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । प्रसूनैः = 'प्रसूनं कुसुमं शुभम्' इत्यमरः । लाजैः = 'लाजा पुं भूमि चाक्षताः' इत्यमरः ।

हिन्दी—वायु से कम्पित कोमल कोमल वन-लताओं ने (वन में) वैश्वानर (अग्नि) के समान देदीप्यमान समीप में स्थित उन राजा विलीप के ऊपर फूलों की वर्षा की । (जैसे—नगर में राजा के प्रवेश करने पर उनके ऊपर शहर की बालिकाएँ मंगलार्थक धान की लावाओं की वर्षा करती हैं) ॥१०॥

✓ धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।

विलोकयन्त्यो वपुःपुरापुरक्षणां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

सञ्जी०—धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकरन्तःकरणैः कर्तृभिः । दयया कृपारमेतद्वर्द्धं भावोऽभिप्रायो यस्य तद् दयार्द्रभावं तदाख्यातम् । दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्योऽक्षणां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः । 'विमलं कलषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च' इतिन्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्वब्धं ददृशुरित्यर्थः ।

अन्वयः—धनुर्भृतः अपि अस्य विशङ्कै, अन्तःकरणैः दयार्द्रभावम् आख्यातं वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्षणां प्रकामविस्तारफलम् आपुः ।

वाच्यः—धनुर्भृतोऽपि अस्य वपुः विलोकयन्तीभिः हरिणीभिः अक्षणां प्रकामविस्तारफलम् आपे ।

व्याख्या—धनुर्भृतः = शरासन्धारिणः, अपि = सम्भावनायाम् अस्य = राज्ञः विलीपस्य, विशङ्कैः = निर्भीकैः, अन्तःकरणैः = चित्तैः, दयार्द्रभावं = कृतपूर्णाभिप्रायम्, आख्यातं = कथितम्, वपुः = शरीरम्, विलोकयन्त्यः =

पश्यन्तः, हरिण्यः = मृग्यः, अक्षणां = नटनानाम्, प्रकामविस्तारफलम् = अत्यन्त-विशालताफलम्, आपुः = लेभिरे ।

व्युत्पत्तिः--घनुभृत्तः अपि (घनुष को धारण करने पर भी) = घनुः विभर्तीति घनुभृत् तस्य । अस्य (इस राजा दिलीप के) विशंकैः (शंकारहित) । अन्तःकरणैः (अन्तःकरण से) = अन्तःस्थानि च तानि करणानि अन्तःकरणानि, तैः (मध्यमपदलोपी०) । दयाद्रंभावं (दयाद्रं भाव से पूर्ण) = दयया आद्रं भावः (अभिप्राय) यस्य तत् (बहु०) । आख्यातं (कहा गया) । वपुः ('दिलीप के' शरीर को) विलोकयन्त्यः (गौर से देखती हुई) । हरिण्यः (हरिणियों ने) । अक्षणाम् (अपनी-आंखों का) । प्रकामविस्तारफलम् (अत्यन्त बड़े होने का फल) = प्रकामं (यथेष्टम्) विस्तारः प्रकामविस्तारः, (कर्म०) तस्य फलम् प्रकामविस्तारफलम् (ष० त०) । आपुः (प्राप्त किया) ।

कोशः--दयाद्रंभावम् = 'दया कृपानुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि' इति, 'भानः सत्तास्वभावाऽभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इति चामरो । विशंकैः = शंका भये संशये च' इत्यने० । अक्षणां = 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी । दृग्दृष्टी च' इत्यमरः । हरिण्यः = 'मृगे कुरङ्ग-वातायु-हरिणाजिनयोनयः' इत्यमरः ।

हिन्दी—घनुष को धारण करने पर भी राजा दिलीप का शरीर दयापूर्ण है, ऐसा समझ कर भयरहित अन्तःकरणों से अपलक दृष्टि से राजा को देखती हुई हरिणियों ने अपनी आंखों को बड़ी-बड़ी होने का फल प्राप्त किया ॥११॥

✓ सकीचकंमरुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्विरापादितवंशकृत्यम् ।

शुश्राव कुञ्जेषु यशःस्वमुच्चैरुद्गमयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

सञ्जी०—स इति । स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः अतः एव कूजद्विः स्वनद्विः कीचकैर्वपुर्विशेषः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतीगृहेषु 'निकुञ्जः कुञ्जो वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वनदेवताभिर्बुद्धगैरियमानमुच्चैर्गमयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ।

अन्वयः—सः मारुतपूर्णरन्ध्रः कूजदिभः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं (यथा तथा) कुञ्जेषु वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव ।

वाच्य०—तेन वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्रुवे ।

व्याख्या—सः= राजा दिलीपः, मारुतपूर्णरन्ध्रः=पवनपूरितच्छिद्रैः, (अतएव) कूजदिभः=स्वनदिभः (शब्दं कुर्वन्दिभः) कीचकैः=वंशवृक्षैः, आपादितवंशकृत्यं=सम्पादितसुपिरवाद्यकार्यम्, (यथा तथा) कुञ्जेषु=निकुञ्जेषु, वनदेवताभिः=काननाधिष्ठातृदेवीभिः, उच्चैः=तारस्वरेण, उद्गीयमानं=स्तूयमानम्, स्वम्=निजं, यशः=कीर्तिम्, शुश्राव=आकर्णयामास ।

व्युत्पत्तिः—सः (उन राजा दिलीप ने) । मारुतपूर्णरन्ध्रः (वायुपूर्ण छिद्रों के होने से)=मारुतेन पूर्णानि रन्ध्राणि येषां ते मारुतपूर्णरन्ध्राः, तैः (बहु०) । कूजदिभ (शब्द करते हुए) । कीचकैः (बाँसों से) । आपादितवंशकृत्यं (बाँसुरी का कार्य संपादन होता हुआ) आपादितं (संपादितं) वंशस्य कृत्यं (कार्यं) यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा भवति तथा आपादितवंशकृत्यम् (क्रियावि०) । कुञ्जेषु (लतानिकुञ्जों में) । वनदेवताभिः (वन की अधिष्ठात्री देवियों से)=वनस्य देवता वनदेवता, ताभिः (प० त०) । उच्चैः (ऊँचे स्वर से) । उद्गीयमानं (गाये जाने वाले)=उत् (उच्चैः) गीयमानम् उद्गीयमानम् । स्वं यशः (अपने यशोगान को) । शुश्राव (सुना) ।

कोशः—कीचकैः='वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशकृत्यम्='वंशादिकं तु सुपिरम्' इति, 'कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु मेघे घनादिभिः' इति चामरी । कुञ्जेषु='निकुञ्ज-कुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । उच्चैः='अल्पे नीचमंहत्युच्चैः' इत्यमरः ।

हिन्दी—उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने पर सुमधुर शब्दों से बाँसुरी के ऐसा कार्यसंपादन होता हुआ बाँसों के निकुञ्जों में (नन्दिनी को चराते हुए मानो) वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाये जाते हुए अपने यशोगान को सुना ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।

तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

सञ्जी०—पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहं निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः सीकरैः । तुषारो हिमसीकरी' इति शाश्वतः । पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीधत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् अत एव शीतमन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात् स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ।

अन्वयः—गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनानातपत्रम् (अतएव) आतपक्लान्तम् आचारपूतं तं सिषेवे ।

वाच्य०—तुषारैः पृक्तेन अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धितः पवनेन अनातपत्रमातपक्लान्तः आचारपूतः सः सिषेवे ।

व्याख्या—गिरिनिर्झराणां = पर्वतवारिप्रवाहाणाम्, तुषारैः = सीकरैः (जलविन्दुभिः), पृक्तः = सम्पृक्तः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी = पादपेत्कम्पितपुष्पगन्धवान्, पवनः = वायुः, अनातपत्रं = छत्ररहितम्, (अतएव) आतपक्लान्तं = धर्मश्रान्तम्, आचारपूतं = सदाचारपावैत्रम्, तं = दिलीपम्, सिषेवेऽसेविष्ट (सेवितवान्) ।

व्युत्पत्तिः—गिरिनिर्झराणां (पहाड़ी झरनों के) = गिरेः (पर्वतस्य निर्झराः (वारिप्रवाहाः) गिरिनिर्झराः, तेषाम् (ष० त०) । तुषारैः (जलकणैः से) । पृक्तः (युक्त) । अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी (वृक्षों के थोड़े-थोड़े से कम्पित फूलों की सुगन्धि से युक्त) = आकम्पितानि (ईषत्कम्पितानि) च तानि पुष्पाणि आकम्पितपुष्पाणि (कर्मधा०); अनोकहानां (वृक्षाणाम्) आकम्पितपुष्पाणि अनोकहाकम्पितपुष्पाणि (ष० त०), तेषां गन्धः अस्ति अस्य इति (बहु० अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी । पवनः (वायु ने) । अनातपत्रं (छत्र से रहित) = आतपात् (सूर्यकिरणात्) त्रायते इति आतपत्रम् (छत्रम्) न विद्यते आतपत्रस्य सः अनातपत्रः (बहु०) तम् । (अतएव) आतपक्लान्तं (धाम से श्रान्त हुए) = आतपेन क्लान्तः आतपक्लान्तः, तम् (तृ० त०) । आचारपूतः (सदाचार से पवित्र) = आचारेण पूतः आचारपूतः, तम् (तृ० त०) । तं (उस राजा को) । सिषेवे (सेवा की) ।

कोशः तुषारैः = 'तुषारो हिमसीकरो' इति शाश्वतः । गिरिनिर्झर-
णाम् = 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः' इति, 'वारिप्रवाहो निर्झरो
झरः' इति चामरी । पुष्पगन्धो = 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संवन्धवर्गयोः'
इति विश्वः । आतपकलान्तं = 'धर्मः स्यादातपे ग्रीष्मेऽप्यूष्मस्वेदांभसोरपि' इति
मेदिनी । अनातपत्रं = 'छत्रं त्वातपत्रम्' इत्यमरः ।

हिन्दी -- (वन में नन्दिनी की रक्षा करते समय --) पर्वतीय झरनों के
फुहारों से युक्त तथा वृक्षों के शनैः शनैः हिलते हुए फूलों की सुगन्धि से पूर्ण
(मन्द-सुगन्धित) पवन ने छत्ररहित अत एव घाम (घूप) से श्रान्त एवं सदा-
चार से पवित्र उस राजा दिलीप की सेवा की ॥१३॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद् विशेषाफलपुष्पवृद्धिः ।

ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

सञ्जीविनी -- शशामेति । गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति वृष्ट्या
विनाऽपि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवादावो वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां
पुष्पाणां च वृद्धिः विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽसीत् । कर्मार्थे घञ्प्र-
त्ययेऽयः । सत्त्वेषु जन्तुषु मध्ये 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिकः प्रबलो
व्याघ्रादिरूपेण दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ।

अन्वयः -- गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने (सति) वृष्ट्या विना अपि
दवाग्निः शशाम, फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत्, सत्त्वेषु (मध्ये) अधिकः ऊनं न
बबाधे ।

वाच्यं -- वृष्ट्या विनापि दवाग्निना शेमे । विशेषया फलपुष्पवृद्ध्या
अभूयत अधिकेन ऊनः न बबाधे ।

व्याख्या -- गोप्तरि = त्रातरि, तस्मिन् = राज्ञि दिलीपे, वनं = काननम्,
गाहमाने = प्रविशति (सति), वृष्ट्या = वर्षणेन, विना = अन्तरेण, अपि = समु-
च्चये, दवाग्निः = वनाग्निः, शशाम = अशमत, फलपुष्पवृद्धिः = फलकुसुम-
वृद्धिः, विशेषा = अतिशयिता, आसीत् = अभूत्, सत्त्वेषु = जन्तुषु (मध्ये),
अधिकः = प्रबलः, (व्याघ्रादिरूपः), ऊनं = दुर्बलं (हरिणादिकं), न = नैव,
बबाधे = पीडयामास ।

व्युत्पत्तिः—गोसरि (पृथिवी-पालक) = गोपायतीति गोसा, तस्मिन् गोसरि । तस्मिन् (राजा दिलीप के) । वने (वन में) । गाहमाने 'सति' (प्रवेश करते ही) = गाहते असौ गाहमानः, तस्मिन् । वृष्ट्या विनापि (वर्षा के बिना भी) । दवाग्निः (वन की अग्नि) = दवस्य अग्निः दवाग्नि (प० त०) । शशा (शान्त हो गयी) । फलपुष्पवृद्धिः (तथा फल फूलों की वृद्धि) = फलानि पुष्पाणि च फलपुष्पाणि (द्वन्द्व०), फल-पुष्पाणां वृद्धिः फलपुष्पवृद्धिः (प० त०) । विशेषा आसीत् (खूब हुई) । सत्त्वेषु 'मध्ये' (जंगली जन्तुओं के बीच में) । अधिकः (प्रबल व्याघ्रादि) । ऊनं ('अपने से' दुर्बल हरिणादि को) । दवाघ्रे (नहीं सताता था) ।

कोशः—'वृष्ट्या = वृष्टिर्वर्षम्—' इत्यमरः । अपि = 'मर्हसिमुच्चयप्रशंकासंभावनास्वपि' इत्यमरः । विना = पृथग्विनान्तरेणते हिस्डू नाना वज्जे' इत्यमरः । दवाग्निः = 'दवादावौ' 'वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । ऊनं = 'हीनन्यूनावूनगहो' इत्यमरः । सत्त्वेषु = 'सत्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः ।

हिन्दी—(नन्दिनी के साथ—) पृथिवी-पालक राजा दिलीप के वन प्रवेश करते ही वर्षा के न होने पर भी वन की अग्नि (दवाग्नि) अपने-आप शान्त हो गयी तथा फल-फूलों की खूब समृद्धि हुई और वन के जन्तुओं के बीच में प्रबल व्याघ्रादिकों ने अपने से दुर्बल हरिणादि प्राणियों को सताया (मारना) बन्द कर दिया । (वन के सभी) जीव-जन्तु एक साथ विचरने लगे ॥१४॥

✓ सञ्चारपूताति दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

सञ्जीविनी—सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वणः पल्लवरागः । रागो रक्तो मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः । स एव ताम्रा पल्लवरागताम्रा । पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः मुनेर्वेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिघानान् विभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकं निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे ।

द्वितीयः सर्गः

अन्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा मुनेः च दिगन्तराणि सञ्चार-
पूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ।

वाच्य०—पल्लवरागताम्रया पतङ्गस्य प्रभया मुनेः धेन्वा च निलयाय
गन्तुं प्रचक्रमे ।

व्याख्या—पल्लवरागताम्रा = नवपत्र-वर्णरुणा, पतङ्गस्य = सूर्यस्य, प्रभा =
कान्तिः, मुनेः = वसिष्ठस्य, धेनुः = नन्दिनी, च = समुच्चये, दिगन्तराणि =
दिशामवकाशान्, सञ्चारपूतानि = सञ्चरणशुद्धानि, कृत्वा = सम्पाद्य, दिनान्ते =
सायंकाले, निलयाय = अस्तमयाय (धेनुपक्षे-निलयाय=गृहाय), गन्तुं = यातुम्,
प्रचक्रमे = प्रवृत्ता ।

व्युत्पत्तिः—पल्लवरागताम्रा (नवपत्र के समान लाल वर्ण वाली—) =
पल्लवस्य (किसलयस्य) रागः पल्लवरागः (ष० त०), पल्लवराग इव ताम्रा
(अरुणा) पल्लवरागताम्रा । पतङ्गस्य प्रभा (सूर्य की प्रभा) । मुनेः धेनुः च
(और मुनि वसिष्ठ की गाय नन्दिनी भी) । दिगन्तराणि (दिशाओं के मध्य
भाग को) = दिशाम् अन्तराणि दिगन्तराणि तानि, (ष० त०) । सञ्चार-
पूतानि कृत्वा (अपने-अपने गमन से पवित्र करके) = सञ्चारेण पूतानि
सञ्चारपूतानि, तानि (तृ० त०) । दिनान्ते (दिन के अन्त में) = दिनस्य
अन्तः दिनान्तः; तस्मिन् (ष० त०) । निलयाय गन्तुं (सूर्यप्रभा अस्ता-
चल जाने के लिए और नन्दिनी अपने आश्रम जाने के लिए), प्रचक्रमे
(तैयार हो गयी) ।

कोशः—पूतानि = 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । दिगन्तराणि = 'दिशस्तु
ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इति, 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्त-
द्विभेदतादर्थ्ये' इति चामरौ । दिनान्ते = 'दिनान्ते तु सायं, सन्ध्या पितृप्रसूः'
इत्यमरः । निलयाय = 'निलयोःस्तमये गृहे' इति हैमः । पल्लव० = 'पल्लवोऽ-
स्त्री किसलयम्' इत्यमरः । पतङ्गस्य = 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः ।

हिन्दी—नवपत्र के समान लाल वर्ण वाली सूर्य की प्रभा तथा उसी रंग
की मुनि वसिष्ठ की नन्दिनी गी ये दोनों अपने-अपने गमन से दिशाओं के
मध्य भाग को पवित्र करके दिन के अवसान में सूर्य-प्रभा अस्त होने (अस्ता-

चल जाने) के लिए तथा नन्दिनी अपने आश्रम में जाने के लिए तैयार हो
गयी ॥१५॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्दग् ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

सञ्जीविनी—तामिति । मध्यमलोकपालो भूपालः । देवतापित्रतिथी-
क्रियायागश्चाददानानि ता एवार्थः यस्यास्तां धेनुमन्दगनुपदं ययौ । 'अन्नगन्-
क्षमनुगेऽनुपदं बलीबमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सङ्निमान्येन 'गतिबुद्धि-
इत्यादिना वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना
युक्ता सा धेनुः सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धा
स्तिव्यबुद्धिरिव बभौ च ।

अन्वयः—मध्यमलोकपालः, देवतापित्रतिथिक्रियार्थां ताम् अन्वक् ययौ
च सतां मतेन तेन उपपन्ना सा (सतां मतेन) विधिना (युक्ता) साक्षात्
श्रद्धा इव बभौ ।

वाच्यं—मध्यमलोकपालेन देवतापित्रतिथिक्रियार्थां सा अन्वक् ययौ
सतां मतेन विधिनोपपन्नया तथा साक्षात् श्रद्धया इव बभौ च ।

व्याख्या—मध्यमलोकपालः = मर्त्यलोक-रक्षकः (दिलीपः), देवतापित्र-
तिथिक्रियार्थां = देवपित्रागन्तुककृत्यप्रयोजनकाम्, (याग-आह-दानादिसाधिका-
काम्), ताम् = नन्दिनीम् (धेनुम्), अन्वक् = अनुपदम्, ययौ जगाम, च =
अयं च, सतां = साधूनाम्, मतेन = मान्येन, तेन = राज्ञा दिलीपेन, उपपन्ना =
युक्ता, सा = धेनुः (सतां मतेन उपपन्ना), विधिना = अनुष्ठानेन (युक्ता), श्रद्धा
आस्तिक्यबुद्धिः, इव = यथा, बभौ = बभासे ।

व्युत्पत्तिः—मध्यमलोकपालः (मर्त्यलोक-रक्षकः) = मध्ये भवः मध्यम-
मध्यमश्चासौ लोकश्च मध्यमलोकः (कर्म०), मध्यमलोकं पालयतीति मध्यम-
लोकपालः (उपप०) । देवतापित्रतिथिक्रियार्थां (देव, पितर तथा अभ्यास-
के सत्कार के साधन-) = देवताश्च पितरश्च अतिथयश्च इति देवतापित्रतिथि-
(द्वन्द्व०) देवतापित्रतिथीनां क्रियाः (याग-आह-दानानि) एव अ-
(प्रयोजनं) यस्याः सा (बहु०), देवतापित्रतिथिक्रियार्थां, ताम् ।
(उस नन्दिनी के) । अन्वक् (पीछे पीछे) । ययौ (चले) । च (और)

ह्यस्त होने सतां मतेन (सज्जनों के समान-) तेन उपपन्ना सा (उन दिलीप से युक्त वह नन्दिनी भी (सतां मतेन = सज्जनों द्वारा) विधिना (यज्ञादि ते उपपन्न युक्त) । साक्षात् श्रद्धा इव (सद्यः श्रद्धा जैसी) बभौ ('सुशोभित' हुई) ।

कोशः—देवतापित्रतिथि-क्रियायांम् = 'वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा वताः स्त्रियाम्' इति, 'स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते' इति, 'अथोऽभघेदरेवस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु' इति चाभराः । अन्वग् = 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽपदं कर्त्तव्यमव्ययम्' इत्यमरः । लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । साक्षात् = साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । विधिना = विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः ।

हिन्दी —(संध्या के समय नन्दिनी जब आश्रम की ओर चली तब—) धिर्वीरपति राजा दिलीप भी देव, पितर तथा अतिथि सत्कार के (दुग्धादि रा) साधनभूत वशिष्ठ की उस नन्दिनी के पीछे-पीछे चले । उस समय सज्जनों के सम्मत (वशिष्ठोक्त सेवावती) उस दिलीप से युक्त वह नन्दिनी सज्जनों से पूजित शास्त्र विधि से युक्त प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली श्रद्धा भांति सुशोभित हो रही थी (सेव्या, सेवक दोनों अपने-अपने अनुरूप लते दिखते रहे थे) ॥ १६ ॥

पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि । ✓
मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

सज्जीविनी—स इति । स राजा । पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि वनानि पश्यन् । पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथानि कुलानि येषु तानि । वर्हाण्येषां सन्तीति वर्हिणा वराहः । 'मयूरो वर्हिणो वर्ही' इत्यमरः । फलवर्हाभ्यामिनञ्प्रत्ययो वक्तव्यः । वासवृक्षाणामुन्मुखा वर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहवर्हिणादिमलिनानि अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाज्जम्' इति क्यप्प्रत्ययः । 'वा क्यप्' इत्यात्मनेपदे शानच् । मृगैरव्यासिताः वेष्टिताः शाद्वला येषु तानि । शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः पश्यामदेशाः । 'शाद्वलः शाद्वहरिते' इत्यमरः । 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति श्वः । 'नडशादाद्ङ्वलच्' इति ङ्वलच् प्रत्ययः । वनानि पश्यन् ययो ।

अन्वयः—सः पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि मृगा-
सितशाद्वलानि (अतएव) श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययो ।

वाच्य०--तेन (दिलीपेन) वनानि पश्यता यये ।

व्याख्या--सः=राजा दिलीपः, पत्वलोत्तीर्णवराहयूथानि=अल्पजलाशयानिर्गतवराहकुलानि, आवासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि=निवासपादपोन्मुखमयूरानि मृगाध्यासितशाद्वलानि=हरिणाऽधिष्ठितशादहरितानि, (अतएव) श्यामायमानानि=असितवर्णपूर्णानि, वनानि=अरण्यानि, पश्यन्=विलोकयन्, ययो जगाम ।

व्युत्पत्तिः--सः (वह राजा दिलीप) पत्वलोत्तीर्णवराहयूथानि (छोटे छोटे तालाबों से निकलते हुए सूकरों के झुण्ड वाले-)=वराहाणां (सूकराणां) यूथानि (कुलानि) वराहयूथानि (प० त०), पत्वलेभ्यः (अल्पजलाशयेभ्यः) उत्तीर्णानि (निर्गतानि) वराहयूथानि येषु तानि (बहु०) । आवासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि (अपने अपने निवास-वृक्षों पर (आकाश की ओर) उन्मुख मयूरों वाले-)=आवासस्य (निवासस्य) वृक्षाः, आवासवृक्षा (प० त० आवासवृक्षाणाम् उन्मुखाः (ऊर्ध्वानिनाः) वर्हिणाः (मयूराः) येषु तानि आवासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि, (बहु०) । मृगाध्यासितशाद्वलानि (हरिणसंजिन पर बैठे हुए हैं ऐसे घासों से हरे प्रदेश वाले-)=मृगैः अध्यासित (अधिष्ठिताः) शाद्वलाः (शादहरिताः) येषु तानि मृगाध्यासितशाद्वलानि (बहु०) । श्यामायमानानि (श्याम ही श्याम-)=अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानाः, तानि श्यामायमानानि । वनानि (वनों को) पश्यन् (देखते हुए) । ययो (जा रहे थे) ।

कोशः--पत्वलोत्तीर्णवराह०='वेशन्तः पत्वलं चाल्पसरः' इति, 'वरसूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः' इति चामरो । वर्हिणानि='मृगवर्हिणो वर्हिणी नीलकण्ठो भृजङ्गभृक्' इत्यमरः । शाद्वलानि='शाद्वलः शादहरित इत्यमरः । 'शादा कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः । शष्पयोः='शष्पं वाला घासः' इत्यमरः ।

हिन्दी--(संध्यासमय नन्दिनी के पीछे-पीछे आश्रम लौटते समय) वह राजा दिलीप छोटे-छोटे तालाबों से निकलते हुए वन के सूकरों के झुण्ड तथा अपने-अपने निवास वृक्षों पर बैठे उन्मुख (बादलों की ओर देख के) मयूरों से एवं हरिणों के झुण्ड जिन पर बैठे हैं ऐसे हरित बालवृणों से घृणित भरे, सर्वत्र ही श्याम वनप्रदेशों को देखते हुए जा रहे थे ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् गृष्टिगुंरुत्वाद् वपुषो नरेन्द्रः ।

उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

सञ्जीविनी—आपीनेति । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गोः' इति हलायुधः ।
नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः ।
आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात् प्रयासाद् वपुषो देहस्य गुंरुत्वादाधिक्याच्च ।
अञ्चिताभ्यां चारुभ्याम् गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं
तपोवनावृत्तिपथम् । 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽचप्रत्ययः ।
अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ ।

अन्वयः—गृष्टिः नरेन्द्रः (च) उभौ आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् वपुषः
गुंरुत्वात् अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथः अलञ्चक्रतुः ।

वाच्यं—गृष्ट्या नरेन्द्रेण (च) उभाभ्यां तपोवनावृत्तिपथम् अलञ्चक्रे ।

व्याख्या—गृष्टिः = सकृत्प्रसूता गोः (नन्दिनी), नरेन्द्रश्च = राजा
दिलीपश्च, उभौ = नन्दिनीदिलीपौ, (यथाक्रमम्), आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् =
(नन्दिनी) ऊधोगुंरुत्वभारधारणप्रयासात्, (दिलीपः -) वपुषः = शरीरस्य.
गुंरुत्वात् = आधिक्यात् (च), अञ्चिताभ्यां = चारुभ्यां (चित्तहारिभ्यां),
गताभ्याम् = गमनाभ्याम्, तपोवनावृत्तिपथः = आश्रमपरावर्तनमार्गम्, अल-
ञ्चक्रतुः = शोभितवन्तौ (उभावपि स्व-स्वमन्दगमनाभ्यां मार्गसौन्दर्यं भूषयामासु-
वरित्यर्थः) ।

व्युत्पत्तिः—गृष्टिः (प्रथम बार व्याई गो नन्दिनी) नरेन्द्रश्च (और
दिलीप) = नरेषु इन्द्रः (स० त०) । उभौ (दोनों) । (यथाक्रम
से -) आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् (नन्दिनी ने अपने अत्यन्त स्थूल स्तनभार
से) आपीनस्य (ऊधसः) भारः आपीनभारः (ष० त०) आपीनभारस्य
मण्डोद्वहनं (धारणम्) आपीनभारोद्वहनम् (ष० त०) आपीनभारोद्वहने
प्रयत्नः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नः (स० त०) तस्मात् । वपुषश्च (और दिलीप
की शरीर की) । गुंरुत्वात् (स्थूलता से) = गुरोः भावः गुंरुत्वं, तस्मात्
गुंरुत्वात् । अञ्चिताभ्यां गताभ्यां (मनोरम मन्द गमनों से) । तपोवना-
वृत्तिपथम् (तपोवन से लौटने के मार्ग को) = तपसः (तपस्यायाः) वनं
रघु ॥३

तपोवनम् (ष० त०), तपोवनात् आवृत्तिः (आगमनम्) तपोवनावृत्तिः (ष० त०), तपोवनावृत्तेः पन्था तपोवनावृत्तिपथः (ष० त०) तम् अलञ्चक्रनुः (सुशोभित किया) ।

कोशः—आपीन० = 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । गृष्टिः = 'गृष्टि सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः । गुरुत्वात् = 'गुरुस्तु गीष्पती श्रेष्ठे गुपितरि दुर्गरे' इति विश्वः । वपुषः = 'गात्रं वपुः संहननम्' इत्यमरः । अचिताभ्यां = 'पूजितेऽञ्चितः' इत्यमरः ।

हिन्दी—तपोवन से लौटते हुए नवप्रसूता नन्दिनी ने अपने स्थूल स्तनभार से बौर राजा दिलीप ने अपने स्थूल शरीर के भार से धीरे-धीरे लचकते हुए मन्द गति से तपोवन के मार्ग को सुशोभित किया ॥१८॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपी निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

सञ्जी०—वशिष्ठेति । वशिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा । निमेषेष्वलसा मत्ता पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निनिमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् उपोषिताभ्यामिव उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद्भूयामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपी । यद्योपोषितोऽतितृष्ण्या जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्ण्याऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

अन्वयः—वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं वनान्तात् आवर्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः (सती) उपोषिताभ्याम् इव लोचनाभ्यां पपी ।

दाच्य०—वसिष्ठधेनोः अनुयायी वनान्तात् आवर्तमानः सः निमेषालसपक्ष्मपङ्क्त्या वनितया लोचनाभ्यां पपे ।

व्याख्या—वसिष्ठधेनोः = नन्दिन्याः, अनुयायिनम् = अनुसरन्तम्, वनान्तात् = अरण्यप्रान्तात्, आवर्तमानं = प्रत्यागच्छन्तम्, तं = दिलीपम्, वनिता = सुदक्षिणा, निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः = निनिमेषनेत्ररोमावलिः (सती), उपोषिताभ्यां = गृहीतोपवासाभ्याम्, इव = यथा, लोचनाभ्यां = नेत्राभ्याम्, पपी = पीतवती (ददर्श) ।

व्युत्पत्तिः—वसिष्ठधेनोः (मुनि वसिष्ठ की धेनु के) = वसिष्ठधेनुः वसिष्ठधेनुः (ष० त०) तस्याः वसिष्ठधेनोः । अनुयायिनं (पीछे-पीछे)

चलने वाले) = अनु (पश्चात्) यातीति अनुयायी तम् अनुयायिनम् ।
वनान्तात् (वनप्रान्त से) = वनस्य अन्तः (प्रान्तः) वनान्तः (ष० त०),
तस्मात् वनान्तात् । आवर्तमानं (लौटने वाले) = आवर्तते असौ आवर्तमानः
तम् आवर्तमानम् । तं (उस दिलीपको) । वनिता (पत्नी सुदक्षिणा ने) ।
निमेषालसपक्ष्मपंक्तिः 'सती' (अपलक दृष्टि से) = पक्ष्मणी पंक्तिः पक्ष्मपंक्तिः
(ष० त०) । निमेषेषु अलसा पक्ष्मपंक्तिः यस्याः सा (बहु०) । उपोषिता-
भ्याम् इव (प्यासी की तरह) । लोचनाभ्यां (आँखों से) । पपी (पान
किया-देखा) ।

कोशः—वसिष्ठधेनोः = 'धेनुः स्यान्नवप्रसूतिका' इत्यमरः । वनिता =
'वनिता महिला तथा' इत्यमरः । पक्ष्मपंक्तिः = 'पक्ष्माक्षिलोम्नि किञ्जल्के'
इत्यमरः । 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः' इत्यमरः । लोचनाभ्यां = 'लोचनं नयनं
नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' इत्यमरः ।

हिन्दी—महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी के पीछे-पीछे वनप्रान्त से आ रहे
राजा दिलीप को उनकी पत्नी रानी सुदक्षिणा, (बहुत देर से बाट जोहती हुई)
अपलक दृष्टि होकर प्यासी आँखों से उन्हें देख कर तृप्त हो गयीं—प्रसन्न
हो उठीं ॥१९॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥२०॥

सञ्जीविनी—पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्ये-
श्वरः' इत्यच्प्रत्ययः । पुरस्कृताऽग्रतः कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी । धर्मार्थ-
पत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्यु-
द्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता
सन्ध्या इव विरराज ।

अन्वयः—वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा
धेनुः तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता सन्ध्या इव रराज ।

वाच्यं—पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गतया तथा धेनुवत्
दिनक्षपामध्यगतया सन्ध्या इव रेजे ।

व्याख्या—वर्त्मनि=मार्गे, पार्थिवेन=पृथिवीश्वरेण (दिलीपेन), पुरस्कृता=अग्रे कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या=पृथिवीश्वरधर्मभार्यया, प्रत्युद्गता=प्रत्युच्चलिता, सा=पूर्वोक्ता, घेनुः=नन्दिनी, तदन्तरे=तयोर्दम्पत्योर्मध्ये, (सुदक्षिणादिलीपयो-रन्तरालभागे) 'स्थिता' दिनक्षपामध्यगता=दिन-रात्र्योर्मध्यगता (अन्तरस्थिता), सन्ध्या इव=सायं समय इव, विरराज=शुशुभे ।

व्युत्पत्तिः—वर्त्मनि (मार्ग में) । पार्थिवेन (पृथिवीपति राजा दिलीप द्वारा)=पृथिव्याः ईश्वरः पार्थिवः (ष० त०) तेन ('तस्येश्वरः' इत्यञ्) । पुरस्कृता (आगे की गयी) । पार्थिवधर्मपत्न्या (रानी सुदक्षिणा से)=धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी (ष० त०), पार्थिवस्य धर्मपत्नी पार्थिवधर्मपत्नी (ष० त०) तथा । प्रत्युद्गता (आगे जाकर आगवानी की हुई) । सा घेनुः (वह नन्दिनी) । तदन्तरे (सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में)=तयोः अन्तरं तदन्तरं तस्मिन् (ष० त०) । दिनक्षपामध्यगता (दिन और रात के मध्य में स्थित)=दिनं च क्षमा च (रात्रिश्च) दिनक्षपे (द्वन्द्व०), दिनक्ष-पयोः मध्यं दिनक्षपामध्यम् (ष० त०), दिनक्षपामध्ये गता (प्राप्ता) दिन-क्षपामध्यगता (स० त०) । सन्ध्या इव (सन्ध्याकाल के समान) । विरराज (शोभित हुई) ।

कोशः—वर्त्मनि='अयत्नं वर्त्ममार्गाद्व्यपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः । पार्थिवेन='राजा राट् पार्थिवः क्षमाभृत्' इत्यमरः । तदन्तरे='अन्तरं'... अवसरे मध्येऽन्तरात्मनि च' इत्यमरः । सन्ध्या='सायं सन्ध्या पितृप्रसू' इत्यमरः ।

हिन्दी—(वन से लौटते समय) रास्ते में राजा दिलीप द्वारा आगे की गयी और (वसिष्ठाश्रम से आती हुई—) उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा से आगवानी की हुई 'पल्लवस्निग्धपाटला' (सर्ग १ श्लोक० ८६) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन-रात के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की तरह सुशोभित हुई ॥२०॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

सञ्जीविनी—अक्षतानां पात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्रो हस्ती यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां घ्रेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च तस्या घ्रेत्वा विशालं शृङ्गान्तरं शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव । आनर्चाचंयामास । अचंतेभौवादिकाल्लिट् ।

अन्वयः—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अस्याः विशालं शृङ्गान्तरम् अर्थसिद्धेः द्वारम् इव आनर्चं ।

वाच्यं—साक्षतपात्रहस्तया सुदक्षिणया अस्याः शृङ्गान्तरम् अर्थसिद्धेः द्वारम् इव आनर्चं ।

व्याख्या—साक्षतपात्रहस्ता = साक्षतभाजनकरा, सुदक्षिणा = दिलीप-भार्या, पयस्विनीं = प्रशस्तक्षीराम्, तां = नन्दिनीम्, प्रदक्षिणीकृत्य = परिक्रम्य, प्रणम्य = अभिवाद्य, च, अस्याः = नन्दिन्याः, विशालं = विस्तीर्णम्, शृङ्गान्तरं = शृङ्गमध्यम्, अर्थसिद्धेः = कार्यसिद्धेः, द्वारं = प्रवेशमार्गम्, इव = यथा, आनर्चं = पूजयामास ।

व्युत्पत्तिः—साक्षतपात्रहस्ता (अक्षतों से युक्त पूजन पात्र को हाथ में लिए) = अक्षतानां पात्रम् अक्षतपात्रम् (ष० त०), अक्षतपात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्रो (बहु०) साक्षतपात्रो हस्ती यस्याः सा (बहु०) । प्रशस्तं (यज्ञार्थं) पयः अस्ति अस्या इति पयस्विनी, ताम् । तां (उस नन्दिनी की) प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च (परिक्रमा और प्रणाम करके) = प्रगतः दक्षिणं प्रदक्षिणम्, अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्बन्धमानं कृत्वेति प्रदक्षिणीकृत्य । अस्याः (उसकी) । विशालं (बड़ी-बड़ी) । शृङ्गान्तरं (स्थूल सींगों के मध्यभाग को) = शृङ्गयोः अन्तरं शृङ्गान्तरम् (ष० त०) तत् । अर्थसिद्धेः (जो पुत्र-प्राप्तिरूप प्रयोजनसिद्धि के लिए) = अर्थस्य (कार्यस्य) सिद्धिः (सफलता) अर्थसिद्धिः (ष० त०) तस्याः । द्वारम् इव (द्वार के समान था, उसकी) । आनर्चं (पूजा की) ।

हिन्दी—(सन्ध्या समय वन से लौट कर वसिष्ठाश्रम के निकट नन्दिनी के आने पर) अक्षतादि से युक्त पूजन-पात्र को हाथों में लिये सुदक्षिणा ने पहले उस पयस्विनी नन्दिनी की परिक्रमा की तत्पश्चात् उसे प्रणाम करके-

उसकी बड़ी-बड़ी स्थूल सींगों के मध्यभाग, जो राजा-रानी के लिए पुत्रप्राप्ति प्रयोजन की सिद्धि के लिए द्वार-स्वरूप ही था—उसकी पूजा की ॥२१॥

✓ वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्या प्रत्यग्रहीद् सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

सञ्जीविनी—वत्सोत्सुकाऽपीति । सा धेनुर्वत्सोत्सुकापि वत्सोत्कण्ठितापि स्तिमिता निश्चला सती सपर्या पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महता-मित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरो-गतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शना-दानन्दो युज्यत इत्यर्थः ।

अन्वयः—सा वत्सोत्सुका अपि स्तिमिता (सती) सपर्या प्रत्यग्रहीत् इति तौ ननन्दतुः । भक्त्या उपपन्नेषु तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि हि ।

वाच्यं—सया वत्सोत्सुकया अपि स्तिमितया सपर्या प्रत्यग्राहि, इति ताभ्यां ननन्दे । प्रसादचिह्नैः हि भूयते ।

व्याख्या—सा=धेनुः, वत्सोत्सुकाऽपि=वत्सोत्कण्ठिताऽपि, स्तिमिता=निश्चला, (सती=भवन्ती), सपर्या=पूजाम्, प्रत्यग्रहीत्=स्वीचकार, इति=हेतोः, तौ=दम्पती, (सुदक्षिणा-दिलीपी), ननन्दतुः=मुमुदंतुः । (यतः) भक्त्या=श्रद्धाविशेषेण, उपपन्नेषु=युक्तेषु, तद्विधानां=तत्प्रकारकाणां महताम्, प्रसादचिह्नानि=अनुग्रहलक्षणानि पुरःफलानि=पुरोगतानि (प्रत्यासन्नानि), हि=इति निश्चितम् ।

व्युत्पत्तिः—सा (उस नन्दिनी ने) । वत्सोत्सुकाऽपि (अपने बछड़े के लिये उत्कण्ठित होती हुई भी)=वत्से उत्सुका (उत्कण्ठिता) । वत्सोत्सुका (स० त०) । स्तिमिता 'सती' (स्थिर होती हुई) । सपर्या (पूजा की) । प्रत्यग्रहीत् (स्वीकार किया) । इति (इसलिए) तौ ननन्दतुः (वे राजा रानी दोनों प्रसन्न हुए) । (यतः=क्योंकि) । भक्त्या (श्रद्धा से) । उपपन्नेषु (युक्त) । तद्विधानां (उस नन्दिनी के सदृश महानुभावों की,=तस्याः धेन्वाः) विधा इव विधा (प्रकारः) येषां ते तद्विधाः (बहु०) तेषाम् ।

प्रसादचिह्नानि (प्रसन्नता के लक्षण) = प्रसादस्य (प्रसन्नतायाः) चिह्नानि (लक्षणानि) प्रसादचिह्नानि (ष० त०) । पुरःफलानि हि (मनोरथ सिद्ध करने वाला होता ही है) पुरः (अग्रे) फलं येषां तानि पुरःफलानि (बहु०) ।

कोशः—वत्सोत्सुका = 'शकृत्करिस्तु वत्सः स्यात्' इत्यमरः । स्तिमिता = 'स्तिमिती विलम्बनिश्चली' इत्यने० । सपर्या = 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चाहंणाः समाः' इत्यमरः । इति = 'इति हेतुप्रकरण'—इत्यमरः । तद्विधानां = 'विधा विधी प्रकारे च' इत्यमरः । प्रसाद० = 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः ।

हिन्दी—(संध्या समय वन से लौटने पर) उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित होती हुई भी सुस्थिर होकर (रुक कर) सुदक्षिणा की पूजा को स्वीकार किया, इससे राजा-रानी दोनों उत्फुल्ल हो उठे; क्योंकि भक्तों पर नन्दिनी के समान श्रेष्ठजनों की प्रसन्नता का लक्षण निश्चय ही इति अभीष्ट देने वाला होता है ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

सञ्जीविनी—गुरोरिति । भुजोच्छिरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैरुद्धत्या सहावत्समानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाऽथ पुम्भूमिनि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सान्ध्यं सन्ध्याया विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । घेतुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्काम-घेतुत्वं गम्यते ।

अन्वयः—भुजोच्छिरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं च समाप्य दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीम् पुनः एव भेजे ।

वाच्य०—भुजोच्छिरिपुणा दिलीपेन निषण्णां दोग्ध्रीं पुनः भेजे ।

व्याख्या—भुजोच्छिरिपुः = बाहुविनाशितशत्रुः, दिलीपः = राजा, सदारस्य = भार्यासहितस्य, गुरोः = वसिष्ठस्य, पादौ = चरणी, निपीड्य = संवाह्य

(अभिवन्द्य), सान्ध्यं=सायंकालिकम्, विधिम्=अनुष्ठानं च, समाप्य=विधा
(कृत्वा), दोहावसाने=दुग्धदोहनान्ते, निषण्णाम्=उपविष्टाम्, दोग्ध्रीं
धेनुम्. पुनरेव=भूयोऽपि, भेजे=सिषेवे ।

व्युत्पत्तिः--भुजोच्छिन्नरिपुः (अपने बाहु-बल से शत्रुओं को नष्ट करने वाले)=भुजाभ्यां (बाहुभ्यां) उच्छिन्नाः (विनाशिताः) रिपवः के स (बहु०) । दिलीपः (राजा दिलीप ने) । सदारस्य (पत्नी अरुन्धती सहित दारः (भार्यया) सहितः सदारः तस्य । गुरोः (गुरु वसिष्ठ के) । पादो (चरण को) । निपीडय (वन्दना करके) सान्ध्यम् (सायंकालिक-)=सन्ध्यायां प्र सान्ध्यः, तं सान्ध्यम् । विधिं च (कृत्य को भी) । समाप्य (समाप्त करके) । दोहावसाने (दूध दुहने के पश्चात्)=दोहस्य (दोहनस्य अवसानं दोहावसानम् (ष० त०), तस्मिन् । निषण्णां (बैठी हुई) दोग्ध्रीं (दोहनशीला उस नन्दिनी की) । पुनरेव (पहले जैसी) । भेजे (रात्रिसेवा करने लगे) ।

कोशः--सदारस्य='पुंभूमि दाराः स्यात् कुटुम्बिनी' इत्यमरः । पादो 'पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । विधिं='विधिविधाने' हेबेऽ इत्यमरः । पुनः='मुहुः पुनः पुनः शश्वत्' इत्यमरः । भुजोच्छिन्नरिपुः='भुजव प्रवेष्टो दोः' इति, 'रिपो वैरिसपत्नारि द्विषद्वेषणदुर्हतः' इति चामरी ।

हिन्दी—अपने बाहुबल से शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा दिलीप नन्दिनी के साथ वन से आने पर—गुरु-पत्नी अरुन्धती सहित गुरु-चरणों प्रणामोत्तर सायंकृत्य समाप्त करके दोहन के पश्चात् बैठी हुई उस नन्दिनी रात्रि-सेवा में पुनः दोनों राजा-रानी जुट गये ॥२३॥

✓ तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।

क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

सञ्जीविनी—तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः । पत्नीद्वितीया सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्त पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानुपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वतन्तरं संविवेश सुप्ताप्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौष

पर्यमुच्यते, क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते'
इति द्वितीया ।

अन्वयः—गोप्ता गृहिणीसहायः (सन्) अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां
ताम् अन्वास्य क्रमेण सुताम् अनुसंविवेश । प्रातः सुप्तोत्थिताम् अनूदतिष्ठत् ।

वाच्य०—गोप्ता गृहिणीसहायेन सुमामनुसंविवेशे । प्रातः सुप्तोत्थिता
अनूदस्थायत ।

व्याख्या—गोप्ता = रक्षकः (दिलीपः), गृहिणीसहायः = पत्नीद्वितीयः,
(सन्) (उभौ अपि), अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां = समीपोपस्थापितोपहार-
दीपाम्, ताम् = उपविष्टाम् (नन्दिनीम्), अन्वास्य = पश्चात् उपविश्य, क्रमेण =
यथाक्रमम्, सुप्तां = निद्रिताम्, अनुसंविवेश = पश्चात् सुष्वाप, प्रातः = प्रभाते,
सुप्तोत्थितां = शयनानन्तरं प्रबुद्धाम्, अनूदतिष्ठत् = पश्चात् उस्तस्थौ ।

व्युत्पत्तिः—गोप्ता (रक्षा करने वाले दिलीप) । गृहिणीसहायः (पत्नी
सुदक्षिणा के सहित) = गृहिणी (पत्नी) सहाया द्वितीया यस्य सः (बहु०) ।
अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां (समीप के उपहारस्वरूप रखे हुए दीप वाली) =
अन्तिके = समीपे न्यस्ताः = स्थापिताः, बलयः = उपहाराः दीपाः यस्याः सा
अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाः (बहु०) ताम् । ताम् (ऐसी बैठी हुई उस नन्दिनी
के) । अन्वास्य (पीछे बैठकर) । क्रमेण (यथाक्रम से) । सुप्तां (उस
नन्दिनी के सो जाने पर) । अनुसंविवेश (पश्चात् सोये) । प्रातः (प्रातः-
काल) । सुप्तोत्थितां (उस नन्दिनी के सोकर उठने पर) = (आदी)
सुप्ता (पश्चात्) उत्थिता चेति सुप्तोत्थिता, ताम् (कर्म०) । अनूदतिष्ठत्
(स्वयं उठ गये) ।

कोशः—बलिप्रदीपाम् = 'करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम्'
इत्यमरः । गृहिणीसहायः = 'अनुप्लवः सहायश्चाऽनुचरोऽभिचरः समा' इत्य-
मरः । सुप्तां = 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः ।

हिन्दी—नन्दिनी की रक्षा (सेवा) करने वाले राजा दिलीप पत्नी
सुदक्षिणा के साथ होकर जिसके निकट पूजनोत्तर दीपादि उपहार रखे हैं ऐसी
उस नन्दिनी के पीछे निकट में ही दोनों बैठकर यथाक्रम से—नन्दिनी के

सोने पर दोनों राजा-रानी सो गये और प्रातः नन्दिनी के उठने पर दोनों उठ गये ॥२४॥

✓ इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

सञ्जीविनी—इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या सममभि-
षिक्तपत्न्या सह 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या प-
कीर्तिर्यस्य तस्य । दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य क-
नूपस्य । त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्तदिना-
न्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुर्व्यक्रान्तानि ।

अन्वयः—इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तः दीनो-
द्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः ।

वाच्य०—इत्थं तस्य सप्तभिः त्रिगुणैः दिनैः व्यतीये ।

व्याख्या—इत्थम्=अनेन प्रकारेण, प्रजार्थं=सन्तानाय, महिष्या=अभि-
षिक्तपत्न्या, समं=सह, व्रतं=नियमम्, धारयतः=बहूतः महनीयकीर्तः=
पूजनीयशसः, दीनोद्धरणोचितस्य=दुःखीजनरक्षणतत्परस्य, तस्य=राज-
दिलीपस्य, त्रिगुणानि=त्रिभिः आवर्तितानि (गुणितानि), सप्त=सप्त-
सङ्ख्याकानि, दिनानि=अहानि (एकविंशति दिनानि इत्यर्थः), व्यतीयुः=
व्यतीतानि ।

व्युत्पत्तिः—इत्थं (इस प्रकार) प्रजार्थं (पुत्र के लिए)=प्रजा
(सन्ततिः) एव अर्थः (प्रयोजनं) यस्य तत् (बहु०), अथवा प्रजाय इति
प्रजार्थम् (अस्वपदवि०) महिष्या समं (पत्नी सुदक्षिणा के साथ) । व्रतं
धारयतः (नियम को धारण किये हुए) । महनीयकीर्तः (उत्कृष्ट कीर्ति से
युक्त)=महनीया कीर्तिः (यशः) यस्य स महनीयकीर्तिः (बहु०) तस्य ।
दीनोद्धरणोचितस्य (दुखियों के उद्धार में लगे हुए)=दीनानां=दैन्ययुक्ता-
नाम् उद्धरणं दीनोद्धरणं (ष० त०), दीनोद्धरणे उचितः=परिचितः (ष०
त०) दीनोद्धरणोचितः तस्य । तस्य (उन दोनों की) । त्रिगुणानि सप्त
दिनानि (तीन से गुने गये सात अर्थात् २१ दिन)=त्रिभिः गुणः येषां (बहु०)
तानि त्रिगुणानि । व्यतीयुः (बीत गये) ।

कोशः—‘व्रतं = ‘नियमो व्रतमस्त्री तत्’ इत्यमरः । समं = ‘सार्धं साकं समं सह’ इत्यमरः । महिष्या = ‘कृताऽभिषेका महिषी’ इत्यमरः । कीर्तिः = ‘यशः कीर्तिः समज्ञा च’ इत्यमरः ।—उचितस्य = ‘उचितं तु भवे न्यस्ते मिते ज्ञाते समंजसे’ इति मे० ।

हिन्दी—इस प्रकार पुत्रप्राप्ति के लिए रानी सुदक्षिणा के साथ गुरु-पदिष्ट संयम-नियम को धारण किए हुए उत्कृष्ट कीर्ति से युक्त दोन-दुखियों का उद्धार करनेवाले सपत्नीक उन राजा दिलीप के (तपस्या के) २१ दिन ना-गीत गये ॥२५॥

अन्येद्युरात्माऽनुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

सञ्जीविनी—अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । ‘सद्यः-रूपरारि०’ इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । ‘अद्यात्राह्वयथ पूर्वोऽह्नीत्यादौ वीतरापरात् । तथाऽध्वरान्यान्यरेतरात्पूर्वेद्युरादयः’ इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । ‘भावोऽभिप्राय आशयः’ इति शब्दः, जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । ‘ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः’ इत्यात्मनेपदे ज्ञानच् । तत्तस्मिन्मिति प्रपातः पतनप्रवेशः गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि तानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिस्तत् ‘शष्पं बालतृणं घासः’ इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुह्यमाविवेश ।

अन्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना गङ्गा-प्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेश ।

वाच्यं—आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमानया मुनिहोमधेन्या गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेशे ।

ध्याख्या—अन्येद्युः = अन्यस्मिन् (द्वाविंशे) दिने, मुनिहोमधेनुः = वसिष्ठ-कहवनसाधनभूता नवप्रसूता गौः, आत्मानुचरस्य = स्वानुयायिनः भावम् = अभिप्रायम्, (दृढभक्तित्वम्), जिज्ञासमाना = ज्ञातुम् इच्छन्ती, गङ्गाप्रपातान्त-विरूढशष्पं = भागीरथी-प्रवाहपतननिकटोत्पन्नबालतृणम्, गौरीगुरोः = पार्व-तीपितुः, गह्वरं = गुह्यम्, आविवेश = प्राविशत् ॥

व्युत्पत्तिः—अन्येद्युः (दूसरे २२ वें दिन) । मुनिहोमधेनुः (वसिष्ठ की होमसाधनीभूता नन्दिनी ने) = होमस्य धेनुः (ष० त०) होमधेनुः, मुने (वसिष्ठस्य) होमधेनुः (यज्ञसाधनीभूता नवप्रसूता गौः) मुनिहोमधेनुः (ष० त०) आत्मानुचरस्य भावं (सेवक की भक्ति को) = आत्मनः अनुचरः आत्मानुचरः (ष० त०) तस्य । जिज्ञासमाना (जानने के लिए) = ज्ञातुम् इच्छन् जिज्ञासते, जिज्ञासते इति जिज्ञासमाना । गंगाप्रपातान्तविच्छिन्नशष्पं (गंगाप्रवाह के निकट उगी हुई बालतृण वाली) = गंगायाः प्रपातः (पतनप्रदेशः गंगाप्रपातः (ष० त०), गंगाप्रपातस्य अन्तः (समीपः) गंगाप्रपातान्तः (ष० त०), गंगाप्रपातान्ते विच्छिन्नानि (उत्पन्नानि) शष्पाणि (बालतृणानि) यत् (बहु०) तत् । गोरीगुरोः (पार्वती-पिता हिमालय की) = गौर्याः (पार्वत्या गुरुः (पिता) गौरी-गुरुः (ष० त०) तस्य । गह्वरं (गुफा में) । आविर्भूता (प्रवेश कर गयी) ।

कोशः—भावं = 'भावः सत्तास्वभावाऽभिप्रायचेष्टात्मजन्ममु' इत्यमरः । गंगाप्रपातान्तं = 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गोरीगुरोः = 'गुरुर्गोपति-पित्रादौ' इत्यमरः । गह्वरम् = 'बिले' इत्यमरः ।

हिन्दी—दूसरे (२२ वें), दिन मुनि वसिष्ठ की होमसाधनीभूता नन्दिनी अपने सेवक राजा दिलीप के भक्ति की परीक्षा करने के लिए वन में चरती गंगाप्रवाह के निकट में (तट पर) उगी हुई हरी-हरी घासों का हिमालय की गुफा (कन्दरा) में एकाएक प्रवेश कर गयी ॥२६॥

✓ सा दुष्प्रघर्षा मनसाऽपि हिर्यद्विशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पन्नो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

सञ्जीविनी—सेति । सा धेनुः हिर्यर्वाद्यादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रघर्षा दुष्प्रहेतोरद्विशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पन्नो नृपेण प्रसह्य तां चकर्ष । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्षं किलेत्यलीकेऽव्ययम् ।

अन्वयः—सा हिर्यः मनसापि दुष्प्रघर्षा इति अद्विशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पन्नः सिंहः तां प्रसह्य चकर्ष किल ।

वाच्य० —तया सिंहेन दुष्प्रधर्षया भूयते इति नृपेण अलक्षिताभ्युत्पत्तनेन सिंहेन सा चक्रे किल ।

व्याख्या —सा = नन्दिनी, हिंस्रैः = व्याघ्रादिभिः, मनसापि = अन्तःकरणे-
नापि, दुष्प्रधर्षा = दुर्धर्षा, इति = हेनोः, अद्रिशोभाप्रहितेक्षणने = हिमाचल-
सुषमादत्तदृष्टिना, नृपेण = राजा दिलीपेन, अलक्षिताभ्युत्पत्तनः = अदृष्टाभि-
मुखाक्रमणः, सिंहः = मृगेन्द्रः, तां = नन्दिनीम्, प्रसह्य = हठात्, किल = अलीके,
चकर्ष = अकर्षत् ।

अभ्युत्पत्तिः —सा (वह नन्दिनी) । हिंस्रैः (हिंसक जीवों द्वारा) । मन-
साऽपि (मन से भी) । दुष्प्रधर्षा (डराई नहीं जाने वाली) = दुःखेन प्रध-
र्षितुं शक्या दुष्प्रधर्षा । इति (इसलिये) । अद्रिशोभाप्रहितेक्षणने (हिमालय की
शोभा की ओर दृष्टि लगाये हुये) = अद्रेः (हिमालयस्य) शोभा अद्रिशोभा
(ष० त०), अद्रिशोभायां प्रहिते (दत्ते) ईक्षणे (नेत्रे) येन (बहु०) सः अद्रि-
शोभाप्रहितेक्षण, तेन । नृपेण (उन राजा, दिलीप के द्वारा) । अलक्षिता-
भ्युत्पत्तनः (जिसका आक्रमण लक्षित न हो सका ऐसा) = न लक्षितम् (जातं)
अलक्षितम् (नञ०), अलक्षितम् अभ्युत्पत्तनम् (आक्रमणं) यस्य सः (बहु०)
अलक्षिताभ्युत्पत्तनः । सिंहः (मृगेन्द्र ने) प्रसह्य । किल तां (जबरदस्ती उस
नन्दिनी को पकड़कर) । चकर्ष (खींचने लगा) ।

कोशः —मनसा = 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । हिंस्रैः = 'शरारु-
र्धातुको हिंस्रः' इत्यमरः । इति = 'इतिहेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः ।
अद्रिशोभा० = 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः' इति, शोभा कान्ति-
र्द्युतिश्छविः' इति चामरी । प्रसह्य = 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । सिंहः =
'सिंहो मृगेन्द्र पञ्चास्यो हयंशः केसरी हरिः' इत्यमरः ।

हिन्दी — वह ऋषि वसिष्ठ की धेनु (नन्दिनी) हिंसक सिंहादि जानवरों
द्वारा (शरीर से क्या) मन से भी धमकाई नहीं जा सकती, इस कारण
राजा दिलीप के निश्चिन्त होकर हिमालय पर्वत की शोभा की ओर दृष्टि
डालने पर जिसका आक्रमण जात न हो सका ऐसे भयानक (नन्दिनी की माया
का मृगेन्द्र) सिंह ने एकाएक नन्दिनी के ऊपर चढ़कर उसे खींचने लगा
(नन्दिनी डिरियाते लगी) ॥२७॥

✓ तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्ता निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

संजीविनी—तदीयमिति । गुहानिवद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घः
तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्तघोषणम् आर्तेषु विपन्नेषु साधोहितकारि
नृपस्य नगेन्द्रसक्ता दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रही रश्मी' इत्यमरः
आदायेव गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

अन्वय—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं तदीयम् आक्रन्दितम् आर्तसाधोः नृपः
नगेन्द्रसक्ता दृष्टि रश्मिषु आदाय इव निवर्तयामास ।

वाच्य०—गुहानिवद्धप्रतिशब्ददीर्घेण तदीयेन आक्रन्दितेन नगेन्द्रसक्तं
नृपस्य दृष्टिः निवर्तयाञ्चक्रे ।

व्याख्या गुहानिवद्धप्रतिशब्ददीर्घः = कन्दराव्याप्तप्रतिध्वनितवाक्य
तदीयं = तत्सम्बन्धि, आक्रन्दितम् = आर्तघोषणम्, आर्तसाधोः = आर्ताङ्गि
नाशकस्य, नृपस्य = राज्ञः दिलीपस्य, नगेन्द्रसक्ता = पर्वतराजसुषमादर्शनलब्धना
दृष्टि = नेत्रम्, रश्मिषु = प्रग्रहेषु, आदाय इव = गृहीत्वा इव, निवर्तयामास =
न्यवर्तयत् ।

व्युत्पत्तिः—गुहानिवद्धप्रतिशब्ददीर्घः, (कन्दरे में टकराई हुई प्रतिध्व
से गुञ्जायमान) = गुहायां (कन्दरायां) निबद्धः (व्याप्तः) गुहानिवद्धः (स० त०
गुहानिवद्धश्चाऽसौ प्रतिशब्दः (प्रतिध्वनिः) गुहानिवद्धप्रतिशब्दः (कर्म०
गुहानिवद्धप्रतिशब्देन दीर्घम् (आयतम्) गुहानिवद्धप्रतिशब्ददीर्घम् (तृ० त०)
तदीयं (उस 'नन्दिनी' के) = तस्याः इदं तदीयम् । आक्रान्दितं (आर्तनाद ने)
आर्तसाधोः (दुखियों पर दया करने वाले) = आर्तेषु (पीडितेषु) सा
(हितकारी) आर्तसाधुः (स० त०), तस्य । नृपस्य (राजा दिलीप की
नगेन्द्रसक्ता (हिमालय की शोभा देखने में संलग्न) नगेन्द्रे सक्ता (संलग्न
नगेन्द्रसक्ता (स० त०) ताम् । दृष्टि (दृष्टि को) । रश्मिषु आदाय
(मानो रस्सी से खींचकर जैसे) । निवर्तयामास (नन्दिनी की ओर
दिया) ।

कोशः—आक्रन्दितं = 'क्रन्दितं रुदितं क्रुष्टम्' इत्यमरः । आ
साधोः = 'अतिः पीडाघनुष्कोटयोः' इत्यमरः । गुहानिवद्धप्रतिशब्द० = 'देवखा

विलेगुहा' इति, 'शब्दे निनादनिनदध्वानरवस्वनाः' इति, 'सुदूरं दीर्घमायतम्' इति चामराः । रश्मिषु = 'किरणप्रग्रहो रश्मी' इत्यमरः । दृष्टिम् = दृग्-दृष्टि' इत्यमरः ।

हिन्दी — पर्वत कन्दरा में टकरा कर निकली प्रतिध्वनि से गुञ्जायमान उस सिंहाक्रान्त नन्दिनी घेनु के आर्तनाद ने दुखियों पर दया करने वाले उस राजा दिलीप की-हिमालय की शोभा देखने में संलग्न दृष्टि को मानो रस्सी में खींच कर जैसे नन्दिनी की ओर कर दिया (तुरन्त राजा की दृष्टि—सिंह के पंजे में फँसी डिरियाती हुई नन्दिनी के ऊपर पड़ी) ॥२८॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।

अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोघद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

सञ्जीविनी—स इति । धनुर्धरः स नृपः पाटलायां रक्तवर्णियां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुञ्च' इति क्वसुप्रत्ययः । केसरिणं सिंहम् । सानुमतोऽद्रेः धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयो तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमी 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यक्त्वा सन्नारूढयोः' इति त्यक्त्प्रत्ययः । प्रफुल्लो विकसितस्तम् । 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचा-द्यच् । 'प्रफुल्लतम्' इति तकारपाठे 'त्रिफला विशरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः 'उत्परस्यातः' इत्युदादेशः । लोघ्राख्यं द्रुममिव ददर्श ।

अन्वयः—धनुर्धरः सः पाटलायां गवि तस्थिवांसं केसरिणं सानुमतः धातुमय्याम् अधित्यकायां प्रफुल्लं लोघद्रुमम् इव ददर्श ।

वाक्य—धनुर्धरेण तेन गवि तस्थिवान् केशरी प्रफुल्लो लोघद्रुम इव ददृशे ।

व्याख्या—धनुर्धरः = चापधरः, सः = राजा दिलीपः, पाटलायां = श्वेतरक्त-वर्णायाम्, गवि = घेनी, तस्थिवांसं = स्थितम्, केशरिणं = सिंहम्, सानुमतः = अद्रेः, धातुमय्यां = गैरिकवत्याम्, अधित्यकायाम् = ऊर्ध्वभूमी, प्रफुल्लं = विकसितम्, लोघद्रुमम् = लोघ्राख्यं तरुम्, इव = यथा, ददर्श = अपश्यत् ।

व्युत्पत्तिः—धनुर्धरः सः (धनुषधारी उस दिलीप ने) = धरतीति धरः धनुषः धरः धनुर्धरः । पाटलायां गवि (श्वेतयुक्त लाल रंगवाली उस नन्दिनी गी के ऊपरः) । तस्थिवांसं (बैठे हुए) । केसरिणं (सिंह को) । सानुमतः

(पर्वत की) धातुमय्यां (गैरिक धातुमयी) = धातोर्विकारः धातुमयी, तस्या धातुमय्याम् । अधित्यकायां (ऊँची जमीन पर) । प्रफुल्लं (विकसित) । लोघ्रद्रुममिव (लोघ्र वृक्ष की तरह) दददं । (देखा) ।

कोशः—पाटलायां = 'श्वेतभक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः । धनुर्धरः = 'धन्वो धनुष्मान् धानुष्को निषंग्यस्त्री धनुर्धरः' इत्यमरः । केसरिणं = 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केशरी हरिः' इत्यमरः । अधित्यकायाम् = 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । सानुमतः = 'सुः प्रस्थः सानुरस्त्रिया' इत्यमरः ।

हिन्दी धनुषधारी दिल्लीप ने ईषत् श्वेतयुक्त लाल रंग वाली उन्नति नन्दिनी गी के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊँची जमीन पर उगे हुए विकसित लोघ्र वृक्ष की तरह देखा ॥२९॥

✓ ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।

जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धतुं मेच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

सञ्जीविनी—तत इति । ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी शरण्यं रक्षणम् । शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । 'शरणं रक्षणे गृहे', इति यादवः । शरणे साधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृतः अरयो येन स नृपती राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गो पराभवः' इत्यमरः । वध्यस्य वधाहंस्य । 'दण्डादिभ्यो यः' इति यत्प्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात् । तूणीरामङ्गलूणीरनिषङ्गा इष्वधिद्वयोः इत्यमरः । शरमुद्धतुं मेच्छत् ।

अन्वयः—ततः मृगेन्द्रगामी शरण्यः प्रसभोद्धृतारिः नृपतिः जाताभिषङ्गः सन् । वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् शरम् उद्धतुं मेच्छत् ।

वाच्य०—नृपतिना जाताभिषङ्गेण (सता) शरम् उद्धतुं मेच्छत ।

व्याख्या—ततः = सिंहदर्शनानन्तरम्, मृगेन्द्रगामी = सिंहगामी, शरण्यः = शरणागतारक्षकः, प्रसभोद्धृतारिः = बलाद्विनाशितरिपुः नृपतिः = राजा दिल्लीपः, जाताभिषङ्गः = जातपराभवः (सन्), वध्यस्य = वधाहंस्य, मृगेन्द्रस्य = सिंहस्य, वधाय = हन्तुम्, निषङ्गात् = तूणीरात्, शरम् = बाणम्, उद्धतुं = उत्थापयितुम्, मेच्छत् = अवाञ्छत् ।

व्युत्पत्तिः—ततः (सिंहदर्शनोपरान्त) । मृगेन्द्रगामी (सिंह की तरह चलने वाला = शिकारी) = मृगेषु इन्द्रः मृगेन्द्रः, मृगेन्द्रः इव गच्छतीति मृगेन्द्रगामी । शरण्यः (शरणागत-रक्षक) = शरणे साधुः शरण्यः । प्रसभोद्धृतारिः (बलपूर्वक शत्रुओं को नाश करने वाले) = प्रसभेन (बलात्कारेण) उद्धृताः (विनाशिताः) अरयः (शत्रवः) येन स (बहु०) । नृपतिः (राजा दिलीप ने) = नृणां पतिः नृपतिः (ष० त०) । जाताभिषङ्गः (सन्) (उपस्थित पराभव के समय जैसा) = जातः अभिषङ्गः (पराभवः) यस्य सः (बहु०) । वध्यस्य (मारने योग्य) = वधम् अर्हतीति वध्यः तस्य । मृगेन्द्रस्य (उस सिंह को) । वधाय (मारने के लिए) । निषङ्गात् (तरकस से) । शरम् (बाण को) । उद्धृतुं (निकालने की) । ऐच्छत् (इच्छा की) ।

कोशः—शरं = 'कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । शरण्यः = 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । जाताऽभिषङ्गः = 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः । निषङ्गात् = 'तूष्णीपासङ्गतूणीर-निषङ्ग इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । प्रसभो० = 'प्रसभं तु बलात्कारी हठः' इत्यमरः ।

हिन्दी—नन्दिनी पर आक्रमण किये हुए सिंह को देखने के बाद तुरंत सिंह की तरह ही मन्दगामी (शिकारी) अर्थात् आक्रमण के समय सिंह जैसे धीरे-धीरे (निःशब्द) पैर बढ़ा कर आक्रमण करना है, उसी प्रकार आक्रामक को मारने के समय शनैः शनैः पैरों को बढ़ा कर चलने वाले (फिर भी) शरणागत रक्षक किन्तु बली शत्रुओं को बलपूर्वक मारने वाले सूर्यवंशी राजा दिलीप ने सिंह को त्वरित मार डालने के लिए तरकस से बाण निकालने की इच्छा की तेजी से बाण निकालना चाहा ॥३०॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।

सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रापितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

सञ्जीविनी—वामेतर इति । प्रहर्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्यं' पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् ! 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु ॥४

कंकटः' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एव कर्त्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्त्तरि पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रापितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्ये ।

अन्वयः—प्रहृतुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्) चित्रापितारम्भ इव अवतस्ये ।

वाच्य०—प्रहृतुः तस्य वामेतरेण करेण सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिना चित्रापितारम्भेण इव अवतस्ये ।

व्याख्या—प्रहृतुः=ताडयितुः, तस्य=राज्ञो दिलीपस्य, वामेतरः=दक्षिणः, करः=हस्तः, नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे=कररुहकान्तिशोभितपक्षिविशेषपक्षे, सायकपुङ्खे=बाणमूले, एव=अवधारणं, सक्ताङ्गुलिः=संलग्नाङ्गुलीकः, (सन्), चित्रापितारम्भः=चित्राङ्कितबाणोत्थापनव्यापारः, इव=यथा (तथा), अवतस्ये=अतिष्ठत् ।

व्युत्पत्तिः—प्रहृतुः (प्रहार करने का इच्छुक)=प्रहरीति प्रहृता तस्य प्रहृतुः । तस्य (उस राजा दिलीप का) वामेतरः (दाहिना)=वामादितरः वामेतरः (पं० त०) । करः (हाथ) । नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे (नखों की कान्ति से शोभित तथा कङ्कपक्षी के पंख लगे हैं जिसमें ऐसे)=नखान (कररुहणां) प्रभा (कान्तिः) नखप्रभा (पं० त०) नखप्रभाभिः भूषिता नखप्रभाभूषितानि (तृ० त०), कङ्कस्य (पक्षिविशेष्य) पत्राणि (पक्षाः) कङ्कपत्राणि (ष० त०) नखप्रभाभूषितानि कङ्कपत्राणि यस्य सः नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रः (बहु०), तस्मिन् । सायकपुङ्खे (बाण के मूल में)=सायक (बाणस्य) पुङ्खं (मूलम्) सायकपुङ्खं, (पं० त०), तस्मिन् एव (ही) सक्ताङ्गुलिः (सटी हुई अङ्गुली वाले)=सक्ताः (संलग्नाः) अङ्गुल्यस्य सः सक्ताङ्गुलिः (बहु०) । (सन्=होते हुए) । चित्रापितारम्भः (चित्रलिखित की तरह निस्तब्ध)=चित्रे अपितः आरम्भः=बाणनिकाशोद्योगः यस्य सः चित्रापितारम्भः (बहु०) । अवतस्ये (हो गया) ।

कोशः—वामेतरः='वामं सरीरं सव्यं स्यादपसव्यं तु दक्षिणम्' इति 'इतरस्त्वन्यनीचयोः' इति चामरो । करः='बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । नख०='नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कङ्कः पक्षिविशेषे' इति

गुप्तागारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कंकटः' इति यादवः । 'पत्रं तु वाहने पर्णे पक्षे च शरपक्षिणी' इति विश्वः । सक्ताङ्गुलिः = 'अङ्गुल्यः कर-शाखा स्युः' इत्यमरः । सायकपुङ्खे = 'कर्तारिः पुङ्खे' इति यादवः ।

हिन्दी—नन्दिनी के ऊपर आक्रमण किए हुए उस सिंह के ऊपर बाण-प्रहार करने के लिए राजा दिलीप का दाहिना हाथ तरकस से बाण निकालते समय अपने नखों की प्रभा से भूषित तथा 'कंक' पक्षी के पर (पंख) से सुशोभित उस बाण के मूल में ही अङ्गुलियों के सट जाने से उनका वह हाथ चित्र में लिखित बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए समान हो गया । (तरकस से न बाण निकला और न उनका हाथ ही बाण से अलग हो सका—बाण में सटा ही रह गया) ॥३१॥

बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

सञ्जी०—बाहुप्रतिष्ठम्भेति । बाह्वोः प्रतिष्ठम्भेन प्रनिबन्धेन । 'प्रति-बन्धः प्रतिष्ठम्भः' इत्यमरः । विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रोषधिर्युः रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शास्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत् । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः ।

अन्वयः—बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः राजा मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यः भोगी इव अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत् ।

वाच्य—बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युं राजनं मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यं भोगिन्म् इव अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशन्ति स्वतेजांसि अन्तरदहन् ।

व्याख्या—बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः = भुजप्रतिबन्धप्रवृद्धरोषः, राजा = दिलीपः, मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यः = सर्पविषनिवारकमन्त्रोषधिप्रतिबद्धपराक्रमः; भोगी = भुजङ्गः, इव = तथा, अभ्यर्णम् = अन्तिकम् (समीपम्), आगस्कृतम् = अपराधकारिणम्, अस्पृशद्भिः = अनामृशद्भिः, स्वतेजोभिः = निजोजोभिः; अन्तः = अभ्यन्तरे, अदह्यत् = अतप्यत् ।

व्युत्पत्तिः - बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः (भुजबल के रुक जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध) = बाह्वोः (भुजयोः) प्रतिष्ठम्भः (प्रतिबन्धः) बाहुप्रतिष्ठम्भः (प० त०), बाहुप्रतिष्ठम्भेन विवृद्धः (प्रवृद्धः) मन्युः (क्रोधः) यस्य सः (वहु०) । राजा (दिलीप) मन्त्रोपधिरुद्धवीर्यः (मन्त्र तथा औषध से बाँध दिया गया है प्रभाव जिसका ऐसे) = मन्त्रश्च औषधिश्च इति मन्त्रोपधी (द्वन्द्व०), मन्त्रोपधीभ्यां रुद्धं (प्रतिवृद्धं) वीर्यं (पराक्रमं) यस्य सः (बहु०) । भोगी इव (विपद्यर सर्प के समान) = भोगः (फणा) अस्यास्तीति भोगी । अभ्यर्णम् (समीप में ही स्थित) । आगस्कृतम् (अपराधी को) = आगः (अपराधं) करोतीति आगस्कृत् (उपपद०) तम् । अस्पृशद्भिः (नहीं स्पर्श करते हुए) = न स्पृशन्ति अस्पृशन्ति (नञ०) तैः अस्पृशद्भिः । स्वतेजोभिः (अपने तेजों से) = स्वस्य (आत्मनः) तेजांसि स्वतेजांसि तैः (ष० त०) । अन्तः अदह्यते (अपने आप भीतर ही भीतर जलने लगे) ।

कोशः - बाहु० = 'भुजबाहु' प्रवेष्टो दोः' इति, 'प्रतिबन्धः प्रतिष्ठम्भः' इति, 'मन्युर्द्वये क्रतौ क्रुधि' इति चामराः । अभ्यर्णम् = 'उपकण्ठाऽन्तिकाम्भ्यग्निग्राम्यमितोऽव्ययम्' इत्यमरः ।

हिन्दी - (मायारूपी उस सिंह के दृष्टिपात से ही) भुजबल के एकाएक रुक जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध राजा दिलीप मन्त्र और औषध से रोक दिया गया है प्रभाव जिसका ऐसे महाविषधर सर्प के समान, सामने ही उपस्थित अपराधी का (नन्दिनी के भक्षक सिंह का) कुछ भी नहीं बिगाड़ते हुए विवशता के कारण अपने आप भीतर ही भीतर क्रोधाग्नि में जलने लगे ॥३२॥

✓ तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्भनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।

विस्माद्यन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

सञ्जीविनी - तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्यासतां गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिवाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केचिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो बृहद्बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कतरि क्तः, तम् । दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन् विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मि

ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति शुद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चित् दोषः ।

अन्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वम् आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन् निजगाद ।

वाच्य०—निगृहीतधेनुना सिंहेन आर्यगृह्यः मनुवंशकेतुः सिंहोरुसत्त्वः विस्मितः स विस्मायता निजगादे ।

व्याख्या—निगृहीतधेनुः=आक्रान्तनन्दिनीकः, सिंहः=केसरी, आर्यगृह्यं=सज्जनपक्षपातयोग्यम्, मनुवंशकेतुं=वैवस्वतमनुकुलध्वजम् (मनुकुलश्रेष्ठम्) सिंहोरुसत्त्वं=केसरिविपुलबलम्, आत्मवृत्तौ=स्वबाहुस्तम्भरूपव्यापारे, विस्मितम्=आश्चर्यचकितम्, तं=दिलीपम्, मनुष्यवाचा=मानवगिरा, विस्माययन्=विस्मितं सम्पादयन्, निजगाद=अवोचत् ।

व्युत्पत्तिः—निगृहीतधेनुः (नन्दिनी पर आक्रमण करने वाला)=निगृहीता (पीडिता) धेनुः येन सः (बहु०) । सिंहः (सिंह) । आर्यगृह्यं (सज्जनों के पक्षपाती)=आर्याणां (सज्जनानां) गृह्यं (पक्षपातिनम्) आर्यगृह्यम् (ष० त०) । मनुवंशकेतुं (वैवस्वत मनुवंश के पताका)=मनोः वंशः मनुवंशः (ष० त०), मनुवंशस्य (वैवस्वतमनुकुलस्य) केतुः मनुवंशकेतुः (ष० त०) तम् । सिंहोरुसत्त्वम् (सिंह के समान बलशाली)=सिंहस्य इव उरुः (विपुलं) सत्त्वं (बलं) यस्य सः (बहु०) तम् । आत्मवृत्तौ (अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार में)=आत्मनः (स्वस्य) वृत्तिः (बाहुस्तम्भरूपा क्रिया) आत्मवृत्तिः (ष० त०), तस्याम् आत्मवृत्तौ । विस्मितं (आश्चर्यचकित) । तं (उस राजा दिलीप को) । मनुष्यवाचा (मनुष्य की बोली से)=मनुष्यस्य वाक् (वाणी) मनुष्यवाक् (ष० त०) तथा । विस्माययन् (चकित करता हुआ) । निजगाद (बोला) ।

हिन्दी—नन्दिनी पर आक्रमण करने वाला सिंह सज्जनों के पक्षपाती तथा वैवस्वत मनु के कुल-ध्वज (श्रेष्ठ) एवं सिंह के समान बलशाली होते

हुए भी (नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले सिंह के प्रति) अपने बाहुस्तम से आश्चर्यित राजा दिलीप को वह सिंह मनुष्य की बोली में (पुनः) चक्रि करता हुआ कहने लगा ॥३३॥

✓ अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

सञ्जीविनी—अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् । साध्याभाव-
च्छ्रमो न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य कारणत्वात्
तृतीया, उक्तं च न्यासोद्घोते 'न केवलं श्रूयमाणेव क्रिया निमित्तं कारण-
भावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि' इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्'
इत्यमरः । इतोऽस्मिन् मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा
स्यात् । तथाहि—पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः शिलो-
च्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

अन्वयः—(हे) महीपाल ! तव श्रमेण अलम् । (कुतः) इतः प्रयुक्तम्
अपि अस्त्रं वृथा स्यात् । पादपोन्मूलनशक्ति मारुतस्य रंहः शिलोच्चये न
मूर्च्छति ।

वाच्य०—प्रयुक्तेन अपि अस्त्रेण वृथा भूयते । पादपोन्मूलनशक्तिना
रंहसा शिलोच्चये न मूर्च्छयते ।

व्याख्या—हे महीपाल=भूपते !, तव=भवतः, श्रमेण=प्रयासेन, अलं=
व्यर्थम् (तव साध्यं नास्ति), (कुतः ?) इतः=अस्मिन् (मयि), प्रयुक्तम्=
प्रक्षिप्तम्, अपि, अस्त्रम्=आयुधम्, वृथा=निरर्थकम्, स्यात्=भवेत् । (यतः—)
पादपोन्मूलनशक्ति=वृक्षोत्पाटनसमर्थम्, मारुतस्य=वायोः, रंहः=वेगः, शिलो-
च्चये=पर्वते, न=नहि, मूर्च्छति=वर्धते ।

व्युत्पत्तिः—हे महीपाल (हे भूपाल)=महीं पालयतीति महीपालः, तत्स-
म्बुद्धौ महीपाल ! । तव (तुम्हारा) । श्रमेण (प्रयास ही) । अलम् (व्यर्थ है) ।
(कुतः) इतः मयि (इस मेरे ऊपर)=अस्मिन् इति इतः सप्तम्यर्थे तसिः ।
प्रयुक्तमपि (चलाया हुआ भी) । अस्त्रं (अस्त्र =बाण) । वृथा
स्यात् (व्यर्थ हो जायगा) । (यतः=क्योंकि -) पादपोन्मूलनशक्ति (पेड़ों

को भी उखाड़ने की शक्ति रखने वाला) = पादैः (मूलैः) पिवन्तीति पादपाः (वृक्षाः), पादपानाम् उन्मूलनम् (उत्पाटनं) पादपोन्मूलनम् । (ष० त०), पादपोन्मूलने शक्तिः यस्य (बहु०) तत् । मारुतस्य (पवन का) रंहः (वेग) । शिलोच्चये (पर्वत को—उखाड़ने में) = शिलाभिः उच्चयते इति शिलोच्चयः (पर्वत), तस्मिन् । मूच्छन्ति (नहीं समर्थ होता है) ।

कोशः—‘अलं=‘अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्’ इत्यमरः । अस्त्रं=‘अस्त्रमायुधलोहयोः’ इत्यमरः । पादपोन्मूलनं=‘पादपस्तरुः’ इत्यमरः । रंहः=‘रंहस्तरसी तु रवः स्यदः’ इत्यमरः । शिलोच्चये=‘अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचल-शैलशिलोच्चयाः’ इत्यमरः । मारुतस्य = ‘समीर-मारुतमस्तु’ इत्यमरः ।

हिन्दी—नन्दिनी पर आक्रमण किया हुआ सिंहने कहा—) हे भूपाल ! (मेरे मारने का) तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मेरे ऊपर बाण छोड़ने पर भी तुम्हारा बाण व्यर्थ हो जायगा । (तुम बड़े शक्तिशाली हो इसलिए क्या ?) बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाला पवन भी पर्वत का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता (तुम मुझे उसी तरह का अडिग अचल पर्वत समझो—तरकस से बाण मर्त निकालो राजन् !) ॥३४॥

कैलासगौरं वृषमारुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥

संजीविनी—कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । ‘चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः’ इति शाश्वतः । वृषं वृषमारुक्षोरारोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य सः, तस्याष्ट-मूर्तैः शिवस्य पदार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयानी चेत्यष्टमूर्तयः । इति यादवः ।

अन्वयः—कैलासगौरं वृषम् आरुक्षोः अष्टमूर्तैः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि ।

वाच्यं—पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठः निकुम्भमित्रं कुम्भोदरः किङ्करः अहम् अवेये (त्वया) ।

व्याख्या—कैलासगौरं=रजताद्रिश्वेतम्, वृषं=वृषभम् (नन्दिनम्) आरुक्षोः=आरोहणं कर्तुमिच्छोः, अष्टमूर्तः=शिवस्य, पादार्पणानुग्रहपूष पृष्ठम्=चरणन्यासप्रसादपवित्रपृष्ठदेशम्, निकुम्भमित्रं=निकुम्भनामकशिव-
नुचरमुहदम्, कुम्भोदरं नाम=कुम्भोदरनामकम्, किङ्करं=सेवकं (गणम्) माम्=सिंहम्, अवेहि=जानीहि ।

व्युत्पत्तिः—कैलासगौरं (कैलास पर्वत के समान सफेद)=कैलास (पर्वतः) इव गौरः कैलासगौरः तम् (उप० कर्म०) । वृषं (नन्दी नामक बैल पर) । आरुक्षोः (चढ़ने की इच्छा रखने वाले)=आरोढुम् इच्छतीति आरुक्षुः तस्य । अष्टमूर्तः (महादेव के)=अष्टी (अष्टसङ्ख्याकाः) मूर्तः (पृथिव्यादयः यस्य सः अष्टमूर्तिः (बहु०) तस्य । पादार्पणानुग्रहपूष पृष्ठम् (पादार्पणरूप अनुग्रह से पवित्र पीठवाला)=पादयोः अर्पणं (न्यासः) पादार्पणं (प० त०), पादार्पणम् एव अनुग्रहः पादार्पणानुग्रहः, पादार्पणानुग्रहेण पूष (पवित्रं) पृष्ठं यस्य सः (बहु०), तम् । (निकुम्भ के मित्र)=निकुम्भमित्रं निकुम्भमित्रम् (प० त०), तत्तथोक्तम् । कुम्भोदरं नाम (कुम्भोदर नाम का) । किङ्करम् अवेहि (नीकर मुझे समझो) ।

कोशः—कैलासगौरं='गौरी वलक्षो धवलोज्ज्वलः' इत्यमरः । पूषपृष्ठं=पूषपृष्ठं पवित्रं मेध्यं च' इति, पृष्ठं तु चरमं तनोः' इति चामरी । किङ्करम् 'नियोज्यकिङ्करप्रेष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(नन्दिनी पर आक्रमण किया हुआ सिंह ने पुनः कहा—राजन् !) कैलास पर्वत के समान श्वेत नन्दी नामक बैल पर चढ़ने वाला अष्टमूर्ति भगवान् शङ्कर के पदार्पण से पवित्र है पीठ जिसकी ऐसे निकुम्भ मित्र 'कुम्भोदर' नाम से प्रख्यात मुझे उसी भगवान् शंकर का सेवक समझो (मैं भी नन्दी की तरह शिवजी का वाहन हूँ । मुझ पर प्रहार करोगे) विश्वेश्वर भगवान् शंकर से सामना करना होगा—तुम मेरा कुछ भी बिना नहीं सकते राजन् ! और सुनो !) ॥३॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।

यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३॥

सञ्जीविनी—अमुमिति । 'पुरोऽमु देवदारुं पश्यसि' इति काकुः । असौ देवदारुः । वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूत-तद्भावे चिवः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गोष्ठी हेमनः कुम्भ एव स्तनस्त-स्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः । स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसां क्षीराणाम् । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । स्कन्दसमान-प्रेमास्पदमिति भावः ।

अन्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि ? असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृतः यः स्कन्दस्य मातुः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां रसज्ञः (अस्ति) ।

वाच्यम्—असौ देवदारुः त्वया दृश्यते; अमुं वृषभध्वजः पुत्रीकृतवान् येन रसज्ञेन (भूयते) ।

व्याख्या—पुरः=अग्रे, अमुं=दृश्यमानं, देवदारुं=देवदारुनामकं (वृक्षं); पश्यसि=विलोकयसि ? असौ=एषः (वृक्षः), वृषभध्वजेन=शङ्करेण, पुत्री-कृतः=पुत्रत्वेन स्वीकृतः (अस्ति) । यः, स्कन्दस्य=षडाननस्य, मातुः=जनन्याः (पार्वत्याः), हेमकुम्भस्तननिःसृतानां=हेमकुम्भः (स्वर्णघटः) एव स्तनः (पयोधरः), तस्मात् हेमकुम्भस्तनात्, निःसृतानां (निर्गतानां) पयसाम् (जलानाम्), रसज्ञः=स्वादज्ञः (अस्ति) (स्कन्दमाता पार्वती स्वकीयस्तन-सदृशेन स्वर्णकलशेन स्वयं जलमासिच्य एनं देवदारुवृक्षं वर्द्धितवतीत्यर्थः) । स्कन्दपक्षे—कुमारोऽपि मातुः स्वकीयकनककलशदृशस्तननिर्गतानां पयसां (दुग्धानां) रसज्ञः (स्वादज्ञः अस्ति) ।

व्युत्पत्तिः—पुरः (आगे में) । अमुं (इस) । देवदारुं (देवदारु नामक वृक्ष को) । पश्यसि (देखते हो ?) । असौ (इसे) वृषभध्वजेन (शंकर भगवान् ने=वृषभः (बलीवदः) ध्वजः (चिह्नं) यस्य सः वृषभध्वजः (बहु०) तेन । पुत्रीकृतः (पुत्र के जैसा माना है)=अपुत्रः पुत्रः कृतः इति पुत्रीकृतः । यः (जो देवदारु वृक्ष) । स्कन्दमातुः (षडानन की माता पार्वती के) । हेमकुम्भस्तननिःसृतानां (स्तन-सदृश सुवर्णकलश से निकले)=हेमनः (सुवर्णस्य) कुम्भः (घटः हेमकुम्भः (ष० त०), हेमकुम्भ एव स्तनः (स्तनसदृशः) हेमकुम्भस्तनः, तस्मात् हेमकुम्भस्तनात् निःसृतानि (निर्गतानि) हेमकुम्भस्तननिःसृतानि, (ष० त०) तेषाम् । (स्कन्द-

पक्षे — हेमकुम्भः एव स्तनी = कुचौ, हेमकुम्भस्तनी, ताभ्यां हेमकुम्भस्तनाभ्यां
निःसृतानि इति हेमकुम्भनिःसृतानि, तेषाम्) । पयसां (जल का, स्कन्दपयसां
में दूध का) । रसज्ञः (स्वाद जाननेवाला) = रसं जानातीति रसज्ञः पुरः
(अस्ति = है) ।

कोशः—पुरः = 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः हेमकुम्भ० = 'स्वर्णं
सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः । पयसां = 'पयः क्षीरं पयोऽमु
च' इत्यमरः । रसज्ञः = 'रसो गन्धे रसः स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः क
इति विश्वः ।

हिन्दी—(नन्दिनी के देहारुढ़ सिंह ने दिलीप को और भयभीत करता
हुआ पुनः कहा, हे राजन् !—) इस पुरोवर्ति देवदारु वृक्ष को देखते हो ?
इसे हमारे शंकर जी पुत्रवत् मानते हैं । क्योंकि यह वृक्ष माता पार्वती के
स्तनसदृश कनक-कलश से निकले जल का स्वाद जाननेवाला है । अर्थात् माता
पार्वती ने कुमार कार्तिकेय को जिस तरह अपने कनक-कलश सदृश स्तनों का
दुग्धपान कराकर पाला है, उसी तरह अपने हाथों से स्तनसदृश दिव्य कनक-
कलश के जल से सींच-सींच कर इस देवदारु का संवर्धन किया है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचित् वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिव असुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

सञ्जीविनी—कण्डूयेति । कदाचित् कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता ।
'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक् ततः शानच् । वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता ।
अथाद्रेस्तनया गौरी, असुरास्त्रैरालीढं क्षतम् । सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः ।
'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः । 'सत्सुद्विष०' इत्यादिना दिवप् ।
तमिव, एनं देवदारुं शुशोच ।

अन्वयः—कदाचित् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन यस्य त्वग् उन्मथिता
अथ अद्रेः तनया असुरास्त्रैः आलीढः सेनानी इव एनं शुशोच ।

वाच्य०—कण्डूयमानः वन्यद्विपः अस्य त्वचम् उन्मथितवान्, अथ अद्रेः
तनयया असुरास्त्रैः आलीढः सेनान्यम् इव एनं शुशोचे ।

व्याख्या—कदाचित् = एकदा, कटं = कपोलम्, कण्डूयमानेन = घर्षयता,
वन्यद्विपेन = वनगजेन, अस्य = देवदारुवृक्षस्य, त्वग् = बल्कलम्, उन्मथिता =

प्रत्यादिता, अथ = पश्चात्, अद्रेः = हिमालयस्य, तनया = सुता पार्वती, असुरास्त्रैः = राक्षसायुधैः, आलीढं = क्षतम्, सेनान्यं = स्कन्दम्, इव = यथा, एनं = शिशुं, उरोर्वति = देवदारुम्, शुशोच = शोचितवती ।

व्युत्पत्तिः—कदाचित् (एक समय) । कटं (कपोल को) । कण्डूयमानेन (खुजलाता हुआ) = कण्डूयते इति कण्डूयमानः, तेन कण्डूयमानेन । अन्यद्विपेन (जंगली हाथी ने) = वने भवः वन्यः, वन्यश्चासौ द्विपः वन्यद्विपः कर्म०) तेन । अस्य (देवदारु वृक्ष की) । त्वग् (छाल को) । उन्मथिता उजाड़ डाला) । अथ (उसके बाद—उसे देखकर) । अद्रेः तनया (हिमालय की पत्नी पार्वती ने) । असुरास्त्रैः (राक्षसों के आयुधों से) = असुराणाम् (दैत्याणाम्) अस्त्राणि (आयुधानि) असुरास्त्राणि (प० त०) तैः । आलीढं क्षत-घायल) । सेनान्यं (अपने पुत्र—स्कन्द के) सेनां नयतीति सेनानीः, सेनान्यम् । इव (समान) । एनं (इस देवदारु को क्षत देखकर) । शुशोच दुखी हुई) ।

कोशः—कटं = 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः । कदाचित् = 'कदाचित् ।। तु सार्धं तु' इत्यमरः । वन्यद्विपेन = 'द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इत्यमरः । त्वग् = 'वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः । सेनान्यम् = 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः नानीरग्निः भूर्गुहः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(पुनः सिंह ने कहा, हे राजन् !) एक समय जंगली हाथी ने अपनी गर्दन की खुजलाहट को दूर करने के लिए इस देवदारु वृक्ष में अपनी गर्दन को रगड़ डाला था जिससे इस वृक्ष की छाल उजड़ गयी थी, जिसे देख कर माता पार्वती को उतना ही दुःख हुआ जितना कि युद्ध में दैत्य के अस्त्रों से क्षत-विक्षत अपने कुमार कार्तिकेय को देख कर हुआ था । (इसी लये) ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।। ३८ ॥
यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्ति ॥३९॥

सञ्जीविनी—तदेति । तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन् कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां शूलभृता शिवेन, अङ्गं समीपमागताः प्राप्ताः

सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिस्तत् 'अङ्कः समीप उत्सङ्ग चित्ते स्थानापराधो
इति केशवः । सिंहत्वं विधाय । अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारित
नियुक्तः ।

अन्वयः—तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं शूलभृता अङ्कागतसत्त्ववृत्ति
सिंहत्वं विधाय अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारितः ।

वाच्य०—शूलभूत मां व्यापारितवान् ।

व्याख्या—तदाप्रभृत्येव = तत्कालादारभ्येव, वनद्विपानाम् = विपिनवास
नाम्, त्रासार्थम् = भयार्थम्, शूलभृता = शङ्करेण, अङ्कागतसत्त्ववृत्तिः = अ
(समीपम्) आगतः (आयाताः) सत्त्वाः (प्राणिनः) वृत्तिः (भोजनं) यस्मि
(बहु०) तत् अङ्कागतसत्त्ववृत्तिः, सिंहत्वं = मृगेन्द्रत्वम्, विधाय = सम्पा
अस्मिन् = एतस्मिन्, अद्रिकुक्षौ = (पर्वतगुहायाम्), अहं = कुम्भोदरनाम्
सिंहः, व्यापारितः = नियुक्तः ।

व्युत्पत्तिः—तदाप्रभृत्येव (तभी से) = तदा (तत्कालः) प्रभृति
(आदि) यस्मिन् (कर्मणि) तत् तदाप्रभृति (क्रियाविशेषणमेतत्) । व
द्विपानां (जंगली हाथियों को) = वनस्य द्विपाः (गजाः) वनद्विपाः (ग
त०) तेषाम् । त्रासार्थं (डराने के लिये) शूलभृता (त्रिशूलधारी शं
ने) = शूलं (वज्रं, त्रिशूलं वा) विभर्ति इति शूलभूत तेन । अङ्कागतसत्त्ववृ
(समीप में आये हुए प्राणियों पर ही भोजनवृत्ति चलाने वाला) । सिंह
(सिंह का रूप) = सिंहस्य भावः सिंहत्वम् । विधाय (मुझे देकर) । अस्मि
अद्रिकुक्षौ (इस पर्वत की गुफा में) = अद्रेः (पर्वतस्य) कुक्षिः (गुहा) आ
कुक्षिः (प० त०) तस्मिन् । अहं (मुझे) । व्यापारितः (नियुक्त किया है) ।

कोशः—त्रासार्थं = 'चतुर्दश दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इ
मरः । अद्रिकुक्षौ = 'पिचण्डकुक्षौ जठरोदरं तुन्दम्' इत्यमरः । सत्त्ववृत्तिः
'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इति, 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इ
चामरौ ।

हिन्दी—तभी से (देवदार की छाल उजाड़े जाने के बाद से ही) व
द्रवी जंगली हाथियों को त्रास देने के लिए त्रिशूली भगवान् शंकर ने सब
में आ जाने वाले प्राणियों से ही भोजन चलाने वाले सिंह का रूप देकर

इस पर्वत की गुफा में नियुक्त किया है—मैं रक्षक के रूप में रखा गया हूँ
(अब मुझे सिंह को क्या करना है वह भी सुनो राजन् !) ॥३८॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

सञ्जी०—तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्याः
सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं सुरद्विषो
राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्गागतसत्त्व-
वृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्यै अलं पर्याप्ता । 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वपड्-
भोगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ।

अन्वयः—परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा सुरद्विषः
चान्द्रमसी सुधा इव क्षुधितस्य मे तृप्त्यै अलम् (अस्ति) ।

वाच्य०—प्रदिष्टकालया उपस्थितया एतया शोणितपारणया सुरद्विषः
चान्द्रमस्या सुधया इव क्षुधितस्य मे तृप्त्यै अलं (भूयते) ।

व्याख्या—परमेश्वरेण = शङ्करेण, प्रदिष्टकाला = निर्दिष्टसमया, उप-
स्थिता = मम्प्राप्ता, एषा = असी (धेनुः), शोणितपारणा = रुधिरव्रतान्तभोजनम्,
सुरद्विषः = राहोः, चान्द्रमसी = चन्द्रसम्बन्धिनी, सुधा = अमृतम्, इव = यथा,
क्षुधितस्य = बुभुक्षितस्य, तस्य = अङ्गागतप्राणिवृत्तेः, मे = मम (सिंहस्य),
तृप्त्यै = उदरपूर्त्यै, अलं = पर्याप्तम्, (अस्ति) ।

व्युत्पत्तिः—परमेश्वरेण (शंकर जी से) = परमेश्वासी ईश्वरः परमेश्वरः
(कर्म०) तेन । प्रदिष्टकाला (निर्दिष्ट समय पर) = प्रदिष्टः कालः यस्याः सा
(बहु०) । उपस्थिता (स्वयं आयी हुई) । एषा (यह) । शोणितपारणा
(गोरूप रुधिर भोजन) = शोणितस्य पारणा (व्रतान्तभोजनं = शोणितपारणा
(ष० त०) । सुरद्विषः (देवताओं के शत्रु राहु के लिए) = सुरान् द्वेष्टीति
सुरद्विषः तस्य सुरद्विषः । चान्द्रमसी (चन्द्रमा में स्थित) = चन्द्रमसः तृप्त्यै इयं
(चान्द्रमसी) । सुधा इव (अमृत के तुल्य । क्षुधितस्य (भूखे) । मे (मुझे
सिंह की तृप्ति के लिए) । अलम् (पर्याप्त) । (अस्ति = है ।)

कोशः—क्षुधितस्य = 'बुभुक्षितः स्यात् क्षुधितो जिघत्सुरक्षनायितः' इति मरः । परमेश्वरेण = 'ईश्वरः स्वामिनि शिवे' इत्यने० । सुधेव = 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

हिन्दी—(हे राजन् !) अपने स्वामी भगवान् दांकर से निदिष्ट के भोजन के लिए ठीक समय पर स्वयं आगत इस गाय का रुधिर मेरे लिए उक्त प्रकार सुखद होगा, जैसे चन्द्रग्रहण के समय महाक्षुधित राक्षस राहु के लिए चन्द्रमा में स्थित अमृत होता है । बहुत दिनों से आहार-रहित अतएव ब्रह्म मुझ सिंह के लिए व्रतान्त-पारणा के समान ही यह गो प्राप्त है ॥३९॥

✓ स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दक्षितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

सञ्जीविनी—स त्वमिति । स एवमुपास्यशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दक्षिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुघ्नं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह = शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं घ्नं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति अशक्यार्थेण प्रतिविधानं न दोषायेति भावः ।

अन्वयः—सः त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व भवान् गुरोः, दक्षितशिष्यभक्तिः (अस्ति) यद् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं तत् शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ।

वाच्य०—तेन त्वया निवृत्त्यतां भवता गुरोर्दक्षितशिष्यभक्तिना (भूयते) येन रक्ष्येण शस्त्रेण अशक्यरक्षेण (भूयते) तेन शस्त्रभृतां यशो न क्षीयते ।

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तोपायशून्यः, किकर्तव्यविमूढः त्वं=भवान्, (दिलीपः) लज्जां=त्रपां, विहाय=परित्यज्य, निवर्तस्व=परावर्तस्व, भवान्=त्वं, गुरोः=वसिष्ठस्य, दक्षितशिष्यभक्तिः=प्रकाशकृतछात्रानुरागः (अस्ति), यत्=किञ्चित्, रक्ष्यं=पालनीयं (घनादिकम्), शस्त्रेण=आयुधेन (बाणेन), अशक्यरक्षम्=असाध्यत्राणम्, तत्=आयुधोऽरक्ष्यं वस्तु, शस्त्रभृताम्=आयुधधारिणां, यशः=कीर्तिम्, न=नैव, क्षिणोति=ह्रासयति । असाध्ये कर्मणि अप्रवृत्तिः गर्हणीया न भवतीति भावः ।

व्युत्पत्तिः—सः त्वं (हाथों के रुक जाने से किकर्तव्यविमूढ तुम) । लज्जां विहाय (लज्जा को छोड़कर) । निवर्तस्व (लौट जाओ) । भवान् (तुम ने) । गुरोः दर्शितशिष्यभक्तिः (गुरु के सम्बन्ध से शिष्य के योग्य भक्ति दिखला दी है) = शिष्यस्य भक्तिः (अनुरागः) शिष्यभक्तिः (ष० त०) दर्शिता (प्रकाशिता) शिष्यभक्तिः येन सः (बहु०) । यद् रक्ष्यं (जो रक्षा करने योग्य वस्तु) = रक्षितुं योग्यं रक्ष्यम् । शस्त्रेण (आयुध से) । अशक्यरक्षं (रक्षा करने के योग्य नहीं होती) = न शक्या अशक्या (नञ् त०) अशक्या रक्षा यस्य तत् (बहु०) । तद् (वह) । शस्त्रभृतां (शस्त्रधारी के) = शस्त्रं विभ्रतीति शस्त्रभृतः, तेषाम् । यश (यज्ञ को) । न क्षिणोति (नहीं कम करता) ।

कोशः—लज्जा = 'मन्दाक्षं ह्लिस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः । भक्तिः = 'भक्तिः सेवागौणवृत्त्योर्मज्ञा श्रद्धाविभागयोः' इत्येन० । शस्त्रेण = 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(हे राजन् !) हाथों के रुक जाने पर किकर्तव्यविमूढ होने से आँखें मूँद कर लज्जित होते हुए खड़े मत रहो—लज्जा को छोड़ो और आश्रम को लौट जाओ (तुम्हारे गुरु नाराज नहीं होंगे क्योंकि—) तुमने गुरु के सम्बन्ध में शिष्य के योग्य भक्ति दिखला दी है । (हे राजन् !) जो रक्षा करने योग्य वस्तु अस्त्र-शस्त्रों से रक्षा करने योग्य नहीं होती, वह वस्तु नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी के यश को कम नहीं करती, (इस विषय में तुम्हारी लाचारी गुच वशिष्ठ समझ जायेंगे लौट जाओ—ऐसा सिंह ने कहा) ॥४०॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहृतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

सञ्जीविनी—इतीति । पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वस्य प्रभावात् प्रत्याहृतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषये, अवज्ञामपमानं शिथिलीचकार तस्याजेत्यर्थः । अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ।

अन्वयः—पुरुषाधिराजः इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचः निशम्य गिरिश-प्रभावात् प्रत्याहृतास्त्रः (सन्) आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार ।

वाच्य०—पुरुषाधिराजेन प्रत्याहतास्त्रेण (सता) आत्मन्यवज्ञा
शिथिलीचक्रे ।

व्याख्या—पुरुषाधिराजः=मनुष्याधिपतिः, इति=उक्तप्रकारेण, प्रगल्भः=प्रौढम्, (घृष्टं) मृगाधिराजस्य=सिंहस्य, वचः=वचनं, निशम्य=श्रुत्वा, गिरिशप्रभावात्=शङ्करमाहात्म्यात्, प्रत्याहतास्त्रः=प्रतिवद्धशस्त्रः (सन् = भवन्), आत्मनि=स्वस्मिन्, अवज्ञाम्=अपमानम्, शिथिलीचकार=तत्त्याज ।

व्युत्पत्तिः—पुरुषाधिराजः (नरपति राजा दिलीप ने) = अधि । अधिका राजा अधिराजः, पुरुषाणाम् अधिराजः पुरुषाधिराजः (प० त०) । इति (उक्त प्रकार से) । प्रगल्भं (घृष्टतापूर्णं) । मृगाधिराजस्य (सिंह का) = मृगाणां अधिराजः मृगाधिराजः, तस्य (प० त०) । वचः निशम्य (वचनों को सुनकर) । गिरिशप्रभावात् (शंकरजी के प्रभाव से) = गिरी शेते इति गिरिशः (शंकर), गिरिशस्य प्रभावः गिरिप्रभावः (प० त०) तस्मात् । प्रत्याहतास्त्रः (सन्) (अपने अस्त्र की गति को अवरुद्ध समझते हुए) = प्रत्याहतं (कुण्ठित) अस्त्र यस्य सः (बहु०) । आत्मनि अवज्ञां (आत्मग्लानि को) । शिथिलीचकार (कम कर दिया—अपमान नहीं समझा) = अशिथिलां शिथिलां कृतवान् इति शिथिलीचकार ।

कोशः—प्रगल्भे = 'प्रगल्भः प्रतिभान्विते' इत्यमरः । वचः = 'भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः । अस्त्रः = 'अस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । गिरिश० = 'गिरीशो गिरिशो मृडः' इत्यमरः । 'आत्मन्यवज्ञां = 'आत्मा यत्नो घृतिर्बुद्धिः स्वभावात् ब्रह्मवर्णं च' इति 'रीढावमाननावज्ञाऽवलेहनमसूक्ष्मणम्' इति चामरो ।

हिन्दी—नरपति (होते हुए भी) राजा दिलीप पूर्वोक्त प्रकार के घृष्टतापूर्ण उस (पशु) सिंह के वचनों को सुनकर शंकर के प्रभाव से ही (न कि उस पशु सिंह के डर से) अपने हस्त बाणों को अवरुद्ध समझ कर आत्मग्लानि में रहित हो गये ॥४१॥

प्रत्यन्नवीच्यैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।

जडोऽकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणे वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

सञ्जी०—प्रतीति । स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिन्-
स्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्ने विफलप्रयासः । अत एव वज्रं कुलिशं
मुमुक्षन् मोक्तुमिच्छन् । अम्बकं लोचनम् । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बका-
क्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः, तस्य वीक्षणेन
जडीकृतः निस्पन्दीकृतः । वज्रं पाणी यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः
परे निष्ठा सप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणी सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः ।
स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यन्नवीच्य 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धोऽस्यास्त-
म्भयत्प्रभुः' इति महाभारते ।

अन्वयः—तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः (अत एव) वज्रं मुमुक्षन्
त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृतः वज्रपाणिः इव (स्थितः राजा एनं प्रत्यन्नवीत् च ।

वाच्य०—वितथप्रयत्नेन वज्रं मुमुक्षता जडीकृतेन वज्रपाणिना इव
(स्थितेन नृपेण) एषः प्रति अवोच्यत ।

व्याख्या—तत्पूर्वभङ्गे=तत्प्रथमबाहुस्तम्भरूपप्रतिबन्धे, इषुप्रयोगे=बाण-
वीक्षणे, वितथप्रयत्नः=विफलप्रयासः, (अत एव), वज्रं=कुलिशम्, मुमुक्षन्=
मोक्तुमिच्छन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन=त्रिलोचनविलोकनेन, जडीकृतः=स्तब्धीकृतः,
वज्रपाणिः=इन्द्रः, इव=यथा, (स्थित राजा दिलीपः) एनं मृगेन्द्रं (पुरोवर्तिनं
सिंहम्) ; प्रत्यन्नवीत्=प्रत्युक्तवान्, च=समुच्चये ।

व्युत्पत्तिः—तत्पूर्वभङ्गे (उस प्रकार प्रथम ही बाहुस्तम्भरूप प्रतिबन्ध
होने पर)=सः बाहुस्तम्भरूपः, एव पूर्वः=प्रथमः, भङ्गः=प्रतिबन्धः,
यस्य सः तत्पूर्वभङ्गः, (बहु०), तस्मिन् । इषुप्रयोगे (बाण के चलाने में)=
इषोः (बाणस्य) प्रयोगः (ष० त०) तस्मिन् । वितथप्रयत्नः (विफल
प्रयत्न वाले)=वितथः (विफलः) प्रयत्नः यस्य सः (बहु०) । (अत
एव) वज्रं मुमुक्षन् (वज्रप्रहार करने के इच्छुक-किन्तु) । त्र्यम्बकवीक्षणेन
(शंकर के देखने मात्र से)=त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य सः त्र्यम्बकः,
(बहु०) त्र्यम्बकस्य वीक्षणम् (अवलोकनम्), त्र्यम्बकवीक्षणम् (ष० त०)
नेन । जडीकृतः (निश्चेष्ट किए हुए)=न जडः अजडः (नञ्०), अजडः जडः
प्रस्पद्यमानः-कृतः जडीकृतः । वज्रपाणिः इव (इन्द्र के समान)=वज्रं पाणी
रघु ॥५

यस्य सः (बहु०) । (स्थितः) । एनं (इस सिंह को) । प्रत्यवोचत् (रा
दिलीप, उत्तर देने वाले) ।

कोशः—इषुप्रयोगे=‘पत्री रोप इषुर्द्वयोः’ इत्यमरः । वितथप्रयत्नः=‘वित
स्वनृतं वचः’ इत्यमरः । त्र्यम्बकः=‘त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः’ इत्यमरः । व
पाणिः=‘वज्रोऽस्त्री हीरके पवी’ इत्यमरः ।

हिन्दी—पहले पहल (सिंह के ऊपर) बाण चलाने में विफल प्रया
वाले राजा दिलीप उसी प्रकार चकित हो उठे, जिस प्रहार कदाचित् शंकर
जी के ऊपर कुपित होकर वज्रप्रहार करना चाहने वाले किन्तु शंकर के दृष्टि
पात मात्र से वज्रपाणि इन्द्र का वज्र हाथ से छूट न सका और वे चकित
रह गये । ऐसे इन्द्र के समान पराक्रमी होते हुए भी सिंह दृष्टि के सामने
पराक्रम से विमुख होने पर गम्भीर होकर राजा दिलीप सिंह का उत्तर
देने लगे ॥४२॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद् यदहं विवक्षुः ।

अन्तर्गतं प्राणभृता हि वेद सर्वं भवान् भावमतोऽभिधास्ये ॥४३॥

सञ्जी०—संरुद्धचेष्टस्येति । मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य
मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयं, यद्वचः ‘स त्वं मदीयेन’ (२।४५)
इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्वीयतामित्याशङ्क्ये
किङ्करत्वात् सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि यतो
प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं वेद वेत्ति । ‘वि
लटो वा’ इति णलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं
संबद्धयते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यसम्भाविताथमेतदित्युपहसन्ति,
मीनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतः
अभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ।

अन्वयः—मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य (मम) तद् वचः हास्यं (भवेत्)
वचः अहं विवक्षुः (अस्मि) । हि भवान् प्राणभृताम् अन्तर्गतं सर्वं भावं
अतः अभिधास्ये ।

वाच्य०—तेन वचसा हास्येन (भूयते) मया विवक्षुणा (भूयते) अन्तर्गतं
सर्वं भावं भवता विद्यते, अतः मया अभिधास्यते ।

व्याख्या—मृगेन्द्र ! = हे सिंह !, संरुद्धचेष्टरय = प्रतिबद्धव्यापारस्य, (मम); तत् = वक्ष्यमाणं, वचः = वाक्यं, कामं = यथेच्छम्, हास्यं = परिहसनीयम्; (भवेत्); यद्, वचः = वचनम्, अहम् = दिलीपः, विवक्षुः = वक्तुम् इच्छुः (अस्मि), हि = यस्मात् हेतोः, भवान् = श्रीमान्, प्राणभृतां = जीवानाम् अन्तर्गतं = हृद्गतम्, सर्वं = निखिलम्, भावम् = अभिप्रायम्, वेद = जानाति, अतः = अस्मात् हेतोः, अभिधास्ये = कथयिष्यामि ।

व्युत्पत्तिः—मृगेन्द्र (हे सिंह ! चूँकि) । संरुद्धचेष्टस्य (रुकी हुई चेष्टा वाले) संरुद्धा (प्रतिरुद्धा) चेष्टा (हस्तसंचालनादिव्यापारः) यस्य सः संरुद्ध-चेष्टः, (बहु०) तस्य । (मम = मेरे) । तद् वचः (वह वक्ष्यमाण वचन) । कामं हास्यम् (निश्चय ही, तुम्हारे लिए उपहास करने योग्य होगा) = हसितुं योग्यं हास्यम् । यद् वचः (जिस वचन को) अहं विवक्षुः (मैं कहना चाहता हूँ) = वक्तुम् इच्छुः विवक्षुः । हि (किन्तु) भवान् (आप) । प्राणभृतां (प्राणियों के) = प्राणान् विभर्तीति प्राणभृत् तेषाम् । अन्तर्गतं (मनोगत) । सर्वं भावं (सभी अभिप्रायों को) । वेद (जानते हैं) । अतः (इसलिए) अभिधास्ये (मैं कहूँगा) ।

कोशः—मृगेन्द्र = 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इत्यमरः । कामं = 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेच्छितम्' इत्यमरः । वचः = 'भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः । भावं = 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः ।

हिन्दी—हे सिंह ! चूँकि रुकी हुई चेष्टा वाले मुझ दिलीप के वे वक्ष्यमाण वचन (जिसे मैं कहना चाहता हूँ) निश्चय ही आपके लिए उपहास (मजाक) के योग्य होंगे । किन्तु हे मृगेन्द्र ! आप (भगवान् शंकर के किकर होने के कारण) प्राणियों के मनोगत भावों को (न कहने पर भी) जानते ही हैं, इसलिए मैं कहूँगा ॥४३॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्वस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।

गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत् पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

सञ्जी०—मान्य इति । प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुलोदीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः ज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्तिः (२।३८)

इत्युक्तरूपम् । तर्हि निसृज्य गम्यताम् । नेत्याह—गुरोरपीति । पुरस्तादप्ये
 श्चिद्विदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणे-
 नानुपेक्षाकारणं हविः साधकत्वं सूचयति ।

अन्वयः—स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः स मे मान्यः
 (अस्ति) पुरस्तात् नश्यत् इदम् आहिताग्नेः गुरोः धनम् अपि अनुपेक्षणीयम्
 (अस्ति) ।

वाच्यं—सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुना तेन मे मान्येन भूयते । पुरस्तात्
 नश्यता अनेन धनेन अपि अनुपेक्षणीयेन भूयते ।

व्याख्या—स्थावरजङ्गमानां = तरु-पर्वत-मनुष्यादीनाम्, सर्गस्थितिप्रत्य-
 वहारहेतुः = उत्पत्ति-पालन-नाशकारणम्, सः = प्रभुः, मे = मम, मान्यः =
 पूज्यः, (अस्ति) । पुरस्तात् = अग्रे, नश्यत् = नष्टं भवन्, इदम् = अग्रे
 द्रव्यमानम्, एतत्, आहिताग्नेः = कृताग्निहोमस्य, गुरोः = वशिष्ठस्य, धन-
 मपि = गोधनमपि, अनुपेक्षणीयम् = नावहेलनीयम् (न उपेक्ष्यम्) ।

व्युत्पत्तिः—स्थावर-जङ्गमानां (निर्जीव और सजीव चराचरात्मक जगत्
 की) = तिष्ठन्तीति स्थावराः (वृक्ष-पर्वतादयः), गच्छन्तीति जङ्गमाः (मनु-
 ष्यादयः), स्थावराश्च जङ्गमाश्च इति स्थावरजङ्गमाः (द्वन्द्व०), तेषाम्
 सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः (उत्पत्ति, पालन तथा संहार में कारणभूत) =
 सर्गश्च = (उत्पत्तिश्च) स्थितिश्च (पालनं च), प्रत्यवहारश्च (विनाशश्च), इति
 सर्गस्थितिप्रत्यवहाराः (द्वन्द्व०), तेषां सर्गस्थितिप्रत्यवहाराणां, हेतुः (प-
 त०) । सः (वह भगवान् शंकर) मे (मेरे) । मान्यः (पूज्य हैं, किन्तु)
 पुरस्तात् (सामने में) । नश्यत् (नष्ट होने वाली) । इदम् (यह)
 आहिताग्नेः गुरोः (अग्निहोत्री गुरु वशिष्ठ की) = आहिताः अग्निः येन
 (बहु०) आहिताग्निः कृताग्निहोत्रः, तस्य । धनमपि (गोरूप सम्पत्ति भी)
 अनुपेक्षणीयम् (उपेक्षा करने योग्य नहीं है) = उपेक्षितुं योग्यम् उपेक्षणीयम्
 न उपेक्षणीयम् अनुपेक्षणीयम् (नञ्) ।

कोशः—स्थावर० = 'स्थावरो जङ्गमेतर' इति, 'चरिणु जङ्गमचर' इति
 चामरो । सर्ग० = 'सर्गः स्वभाव-निर्माण-निश्चया-ध्याय-वृष्टिषु' इति
 हेतुर्नाकारणं बीजम् इति चामरो ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) सकल चराचरात्मक जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के कारणभूत भगवान् शंकर मेरे (सूर्यवंशी के भी) परम-आराध्य हैं (इसमें सन्देह नहीं, पर हे मृगेन्द्र !) मेरे सामने ही (आपके द्वारा) नष्ट होने वाली (मर रही यह मेरे कुल-गुरु) महर्षि वशिष्ठ की (प्राण सम प्रिया) नन्दिनी नाम की गोरूप सम्पत्ति भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है । (इसलिए हे मृगेन्द्र !—) ॥४४॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।

दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

सञ्जीविनी—स इति । साऽङ्गागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्तयितुं प्रदाद । दिनावसाने उत्सुको 'माता समागमिष्यती'—त्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुविसृज्यताम् ।

अन्वयः—सः त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं (प्रगृह्य) प्रसीद । (अथ च) दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम् ।

वाच्यं—तेन त्वया मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं प्रसीद्यताम् । दिनावसानोत्सुकबालवत्सां महर्षेः इमां धेनुं विसृज ।

व्याख्या—सः = अङ्गागतसत्त्ववृत्तिः, त्वं = भवान्, मदीयेन = मामकेन, देहेन = कायेन, शरीरवृत्ति = देहजीवनं (भोजनम्), निर्वर्तयितुं = सम्पादयितुम्, (प्रगृह्य), प्रसीद = प्रसन्नो भव । दिनावसानोत्सुकबालवत्सा = दिनान्तोत्कण्ठित-शिशुतर्णका, महर्षेः = वशिष्ठस्य, इयम् = एषा पुरोवर्तिनी, धेनुः = नवप्रसूता गौः, विसृज्यताम् = त्यज्यताम् ।

व्युत्पत्तिः—सः त्वं (समीप में आये प्राणी को खाने वाले आप) । मदीयेन (मेरे) = मम अयं मदीयः तेन मदीयेन । देहेन (शरीर से) शरीरवृत्ति (शरीर व्यापार अर्थात् क्षुधा की) = शरीरस्य वृत्तिः शरीरवृत्तिः (देहव्यापारः = भोजनम्) (ष० त०) ताम् । निर्वर्तयितुं (निवृत्ति के लिये ग्रहण करके) । प्रसीद (खुश हो जाइये, और) । दिनावसानोत्सुकबालवत्सा ('सन्ध्या हो गयी, मेरी माँ आ रही होगी' इस तरह के उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली) = दिनस्य अवसानम् दिनावसानम् (ष० त०) तस्मिन् उत्सुकः (उत्कण्ठितः) बालवत्सः (शिशुतर्णकः) यस्याः सा (बहु०) । महर्षे

इयं धेनुः (महामुनि वशिष्ठ की इस नई व्याई गौ को) । विसृज्यतां
(छोड़ दीजिये) ।

कोशः—शरीरवृत्ति=‘वृत्तिवर्तनजीवने’ इत्यमरः । देहेन=‘कायो देह-
कलीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः’ इत्यमरः । वत्सा=‘वत्सो तर्णकवपौ दो’
इत्यमरः । धेनुः=‘धेनुः स्यान्नवप्रसूतिका’ इत्यमरः ।

हिन्दी—हे मृगेन्द्र ! सो समीप में आने वाले प्राणी को खा जाने वाले
आप निकट में आये हुए हमारे शरीर से ही अपनी क्षुधा को शान्त करने
प्रसन्न हो जाइये और “सन्ध्या हो गयी है अब मेरी माँ वन से चर कर आती
होगी” इस तरह के उत्कण्ठापूर्ण भूखे छोटे बछड़े वाली महामुनि वशिष्ठ को
इस नई व्याई नन्दिनी गौ को छोड़ दीजिये ॥४५॥

अथाऽन्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।

भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद् विहस्याऽर्थपतिं बभाषे ॥४६॥

सञ्जीविनी—अथेति । अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरि-
गह्वराणां गुहानाम् । ‘देवखातविले गुहा । गह्वरम्’ इत्यमरः । अन्धकारं ध्वान्तं
दंष्ट्रामयूखैः, शकलानि खण्डानि कुर्वन् । निरस्यन्नित्यर्थः । किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं
नृपं भूयो बभाषे । हास्यकारणम् ‘अल्पस्य हेतोर्बहु हन्तुमिच्छन्’ इति वक्ष्यमाणं
द्रष्टव्यम् ।

अन्वयः—अथ भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः गिरिगह्वराणाम् अन्धकारं दंष्ट्रा-
मयूखैः शकलानि कुर्वन् किञ्चित् विहस्य अर्थपतिं भूयः बभाषे ।

वाच्यं—भूतेश्वरपार्श्ववर्तिना तेन अन्धकारं शकलानि कुर्वन्ता विहस्य
अर्थपतिः भूयो बभाषे ।

व्याख्या—अथ=दिलीपोक्तिश्रवणानन्तरम्, भूतेश्वरपार्श्ववर्ती=शिवा-
नुचरः, सः=सिंहः, गिरिगह्वराणाम्=पर्वतगुहानाम्, अन्धकारं=ध्वान्तम्,
दंष्ट्रामयूखैः=स्थूलदन्तकिरणैः, शकलानि=खण्डानि, कुर्वन्=वितन्तु-
(निरस्यन्), किञ्चित्=ईषत्, विहस्य=हासं कृत्वा, अर्थपतिं=नृपं दिलीपम्,
भूयः=पुनः, बभाषे=उवाच ।

व्युत्पत्तिः—अथ (दिलीप के वचनों को सुनने के बाद) । भूतेश्वरपार्श्व-
वर्ती (शंकर का अनुचर)=भूतानां (प्राणिनाम्) ईश्वरः भूतेश्वरः (व)

त०), पार्श्वे वर्तितुं शीलमस्य पार्श्ववर्ती । भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्ती भूतेश्वरपार्श्ववर्ती
(ष० त०) । सः (वह सिंह), गिरिगह्वराणां (पर्वत की गुफाओं के) =
गिरेः गह्वराणि (गुहाः) गिरिगह्वराणि, (ष० त०) तेषाम् । अन्धकारं (अन्ध-
कार को), दंष्ट्रामयूखैः (मोटे-मोटे दाँतों की कान्तियों से) = दंष्ट्राणां (स्थूल-
दन्तानां) मयूखाः = कान्तयः, दंष्ट्रामयूखाः (ष० त०) तैः । शकलानि कुर्वन्
(टुकड़े-टुकड़े करता हुआ) । किञ्चिद् विहस्य (थोड़ा मुस्कुरा कर) । भूयः
(पुनः) । वभाषे (कहने लगा) ।

कोशः—अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः । गह्वराणां=देवखातविले
गुहा । गह्वरम्' इत्यमरः । मयूखैः = 'किरणोऽस्त्रमयूखांशुर्गमस्तिघृणिरश्मयः'
इत्यमरः । शकलानि = 'भित्तं शकलखण्डे वा' इत्यमरः । किञ्चित् = 'किञ्चि-
दोषन् मनागर्थे' इत्यमरः ।

६॥ हिन्दी—हे सिंह ! गी के बदले मुझे खा लो; ऐसा कहने के बाद) भग-
वान् शंकर के पास रक्षक के रूप में रहने वाला वह सिंह उस हिमालय की
गुफाओं के अन्धकार को अपने मोटे-मोटे दाँतों की (विद्युत्लता सी) चमक से
टुकड़े-टुकड़े (दूर) करता हुआ अवहेलनापूर्वक थोड़ा हँस कर (विहँस कर)
पुनः राजा दिलीप से कहने लगा ॥४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

सञ्जीविनी—एकातपत्रमिति । एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामि-
त्वम् । नवं वयो यौवनम् । इदं कान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येव बहु अल्पस्य हेतो-
रल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । हातुं त्यक्तु-
मिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ।

अन्वयः—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः इदं कान्तं वपुः च (एतत्सर्वं)
बहु अल्पस्य हेतोः हातुम् इच्छन् त्वं विचारमूढः मे प्रतिभासि ।

वाच्य०—बहु हातुम् इच्छता त्वया विचारमूढेन मे प्रतिभासते ।

व्याख्या—एकातपत्रम् = एकच्छत्रम्, जगतः = लोकस्य, प्रभुत्वं = स्वामि-
त्वम्, नवं वयः = यौवनम्, इदम् = एतत्, कान्तं = रम्यम्, वपुः च = शरीरं च
(इत्येवं) बहु = सकलं (सर्वम्), अल्पस्य हेतोः ('षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति

षष्ठी) = क्षुद्रेण कारणेन, हातुं = त्यक्तुम्, इच्छन् = कामयमानः, त्वम् = भवतु
विचारमूढः = कार्याकार्यविचारे मूर्खः, मे = मम, प्रतिभासि = लक्ष्यसे ।

व्युत्पत्तिः--एकातपत्रं (एकच्छत्रं राज्यं) = एकं च तत् आतपत्रम् एका
तपत्रम् (कर्म०), जगतः प्रभुत्वं (संसार की प्रभुता) = गच्छतीति जगत् तस्य
जगतः, प्रभोभविः प्रभुत्वं (स्वामित्वम्) । नवं वयः (युवावस्था) । इदं (यह)
कान्तं वपुः (मनोहर शरीर) । एतत् सर्वं = (इन सबको) । बहु (बहु
रत्नों को) । अल्पस्य हेतोः (थोड़े के लिए) । हन्तुम् इच्छन् (नष्ट करना
चाहते हो) । (अतः) विचारमूढः (विचार करने में मूर्ख) = विचार
मूढः (मूर्खः) विचारमूढः (स० त०) । मे (मुझे) । प्रतिभासि (मालूम
पड़ते हो) ।

कोशः--एकातपत्रं = 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इति, 'छत्रं त्वातपत्रम्' इति
चामरी । जगतः = 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः ।
प्रभुत्वं = 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः । नवं = 'नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः ।
वयः = 'खगवात्यादिनावयः' इत्यमरः । कान्तम् = 'कान्तं मनोरमं रम्यं
इत्यमरः । वपुः = 'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वष्मं विग्रहः' इत्यमरः । विचार
मूढः = 'अज्ञेयमूढ-यथाजात-मूर्ख-वैधेय वालिशाः' इत्यमरः ।

हिन्दी--हे राजन् ! विश्व भर के सबसे बड़े प्रतापी राजा तथा क
जवानी एवं मनोहर यह सुन्दर शरीर, इन सब दुर्लभ दुष्प्राप्य को एक गो
पीछे ही नष्ट करना चाहते हो ? इससे तुम कर्तव्याकर्तव्य के विचार में
मूर्ख-नासमझ मालूम पड़ते हो । ४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥४८॥

सञ्जीविनी--भूतानुकम्पेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'त
दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वत्तंते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव
सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् जीवेदित्यर्थः
'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवनं पुनः पितेव
उपप्लवेभ्यः विष्नेभ्यः शश्वत्सदा । 'पुनः सदार्ययोः शश्वत्' इत्यमरः ।
रक्षसि स्वप्राणव्ययेनैकघेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः

अन्वयः—तव भूतानुकम्पा चेत् (तर्हि) त्वदन्ते (सति) इयम् एका गौः स्वस्तिमती भवेत्, प्रजानाथ ! जीवन् पुनः पिता इव प्रजाः उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि ।

वाच्य०—तव भूतानुकम्पया (भूयते) चेत् अनया एकया गवा स्वस्तिमत्या (भूयेत) । जीविता पुनः (त्वया) पित्रेव प्रजाः शश्वत् पाल्यन्ते ।

व्याख्या—तव = भवतः, भूतानुकम्पा = प्राणिकृपा, चेत् = अस्ति, (तर्हि), त्वदन्ते = तव नाशे (सति), इयम् = एषा, एका = केवला, गौः = नन्दिनी धेनुः, स्वस्तिमती = क्षेमवती, भवेत् = स्यात् (जीवेत्) । प्रजानाथ = हे जनेश्वर !, जीवन् = प्राणान्, पुनः = चेत्, पिता = जनकः, इव = यथा, प्रजाः = जनान्, उपप्लवेभ्यः = उपद्रवेभ्यः (दस्युभ्यः), शश्वत् = सदा, पासि = त्रायसे ।

व्युत्पत्तिः—तव (आप की) । भूतानुकम्पा (प्राणियों पर दया) = भूतेषु अनुकम्पा भूतानुकम्पा (स० त०) । चेत् (है) । तर्हि (तो) । त्वदन्ते (तुम्हारे मरने पर) = तव अन्तः त्वदन्तः (प० त०), तस्मिन् । इयम् (यह) । एका गौः (केवल एक ही गौ) । स्वस्तिमती (कल्याणवती) । भवेत् (होगी) स्वस्ति (कल्याणम्) अस्यास्तीति स्वस्तिमती । प्रजानाथ (हे प्रजेश्वर !) = प्रजानां नाथः, प्रजानाथः (प० त०) तत्सम्बुद्धौ । जीवन् पुनः आप जीते हुए तो) । पिता इव (पिता के समान) । प्रजाः (प्रजाओं की) । उपप्लवेभ्यः (विघ्नों से) । शश्वत् (निरन्तर) । पासि (रक्षा करेंगे) (वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा) ।

कोशः—भूतानुकम्पा = 'युक्ते कृपादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु' इति; 'कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशा' इति चामरी । स्वस्तिमती = 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । त्वदन्ते = 'अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निघनोऽश्रियाम्' इत्यमरः । शश्वत् = 'पुनः सदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । उपप्लवेभ्यः = 'उपप्लवः सहिकेये विप्लवोत्पातयोरपि' इति मेदिनी ।

हिन्दी—(सिंह ने कहा—) हे प्रजानाथ ! यदि प्राणियों पर तुम्हारी दया है, तो (तुम इसी गौ के पीछे अपने प्राण क्यों देना चाहते हो ?) तुम्हारे मर जाने पर केवल यह एक गौ ही कल्याण को प्राप्त करेगी (जीयेगी)

पर तुम्हारे जीवित रहने पर तो तुम पिता के समान (पूर्ववत् प्रजाओं) के कष्टों से सदा रक्षा करते रहोगे ॥४८॥

न धर्मलोपादियं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह —

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् विभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ।४९॥

सञ्जीविनी — अथेति । अथ पक्षान्तरे, अथवा । एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम्, अत एवाऽपराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रतिमोपन्यासस्य तस्मादग्निकल्पाद् गुरोर्विभेषि इति काकुः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्युपादानात्पञ्चमी । अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोघांसि यासां ता घटोघ्नीः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङ्देशः । 'बहुव्रीहेरुधसो ङीष्' इति ङीष् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम् इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ।

अन्वयः—अथ एकधेनोः अपराधचण्डात् कृशानुप्रतिमात् गुरोः विभेषि (चेत्) अस्य मन्युः घटोघ्नीः कोटिशः गाः स्पर्शयता भवता विनेतुं शक्यः ।
वाच्य०—अथ त्वया कृशानुप्रतिमात् गुरोः भीयते अस्य मन्युं कोटिशः गाः स्पर्शयन् भवान् विनेतुं शक्नुयात् ।

व्याख्या—अथ = अथवा, एकधेनोः = केवलसुरभेः, अपराधचण्डात् = गवोपेक्षणाकृत्ये अत्यन्तकोपनात्, (अत एव) कृशानुप्रतिमात् = अनलसदृशात्, गुरोः = वसिष्ठात्, विभेषि = त्रस्यसि ?, अस्य = गुरोः वसिष्ठस्य, मन्युः = क्रोधः, घटोघ्नीः = महापीनाः, कोटिशः = कोटिसङ्ख्याकाः, गाः = सौरभेयीः स्पर्शयता = प्रतिपादयता, विनेतुम् = अपनेतुम्, शक्यः = क्षमः ।

व्युत्पत्तिः—अथ (अथवा) । एकधेनोः (एक धेनुवाले अतः) = एका एव धेनुः यस्य सः (बहु०), तस्मात् । अपराधचण्डात् (अपराध होने के अत्यन्त क्रुद्ध) = अपराधे चण्डः अपराधचण्डः (६० त०) तस्मात् । कृशानुप्रतिमात् (अग्नि के समान तेजस्वी) = कृशानुः (अग्निः) प्रतिमा यस्य

सः (बहु०) तस्मात् । गुरोः (गुरु वसिष्ठ से) । विभेषि (डरते हो) ।
 नेत् (तो) । अस्य मन्युः (इनके क्रोध को) । घटोष्णीः (घड़े के समान बड़े-
 बड़े थनों वाली) = घटाः इव ऊर्ध्वसि यासां ताः घटोष्ण्यः (बहु०) ताः
 घटोष्णीः । कोटिषः (करोड़ों) । गाः (गायों को) । स्पर्शयता (देते हुए) =
 स्पर्शयतीति स्पर्शयन्, तेन स्पर्शयता । भवता (तुम) । विनेतुं शक्यः (दूर
 करने में समर्थ हो) ।

कोशः—एकघेनोः = 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः । चण्डात् = 'चण्ड-
 स्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । कृशानुप्रतिमात् = 'कृशानुः पावकोऽनलः' इति;
 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया' इत्यमरः । मन्युः = 'मन्यु-
 र्द्वये क्रतो क्रुधि' इत्यमरः । स्पर्शयता = 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपाद-
 नम्' इत्यमरः । घटोष्णीः = 'ऊर्ध्वस्तु क्लीवमापीनम्' इत्यमरः ।

हिन्दी—(राजन् !) अथवा एक घेनु ही (सम्पत्ति) है जिसकी, अत
 एव उसकी रक्षा न करने रूप तुम्हारे अपराध से गुरु वसिष्ठ के अग्नि के
 समान अत्यन्त प्रदीप्त क्रुद्ध हो जाने की सम्भावना से यदि तुम उनसे डरते हो
 तो मत डरो, क्योंकि (हे राजन् !) घड़े के समान स्थूल थनवाली इस
 शक्ति की तरह करोड़ों घेनु को देकर गुरु के क्रोध को शान्त करने में तुम
 समर्थ हो ॥४९॥

तद्वक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
 महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

सञ्जीविनी-तद्वक्षेति । तत्तस्मात् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि
 षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्ने' त्यादिना बलप्रत्य-
 यान्तो निपातः । आत्मदेहं रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् ।
 इत्याह—महीतलेति । ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्ध-
 मात्रेण भिन्नमन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं स्यान्माहुः । स्वर्गान्ति मिद्यत इत्यर्थः ।

अन्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् ऊर्जस्वलम् आत्मदेहं रक्ष;
 हि (विद्वांसः) ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् ऐन्द्रं पदम् आहुः ।

वाच्य०—कल्याणपरम्पराणां भोक्ता ऊर्जस्वलः आत्मदेहः त्वया रक्ष-
ताम् महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नं राज्यम् ऐन्द्रं पदम् उच्यते ।

व्याख्या—तत् = तस्मात् हेतोः, कल्याणपरम्पराणां = मङ्गलपरिपाटी-
नाम्, भोक्तारम् = अनुभवितारम्, ऊर्जस्वलं = बलवत्तरम्, आत्मदेहं = निज-
शरीरम्, रक्ष = पालय, हि = यतः, विद्वांस = मनीषिणः, ऋद्धं = सुसमृद्धम्,
राज्यं = राजकर्म । महीतल-स्पर्शनमात्रभिन्नं = पृथिवी-तलस्पर्शेनैव पृथक्कृतम्,
ऐन्द्रम् = इन्द्रसम्बन्धि, पदं = स्थानम्, आहुः = कथयन्ति ।

व्युत्पत्तिः—तत् (इसलिए) । कल्याणपरम्पराणां (निरन्तर सुखों का)
कल्याणानां (मङ्गलानां) परम्पराः (श्रेणयः) कल्याणपरम्पराः (प०
त०) तासाम् । भोक्तारं (भोगने वाला) । ऊर्जस्वलं (अत्यन्त बलशाली)
ऊर्जः (बलम्) अस्यास्तीति ऊर्जस्वलः (मत्वर्यीयबलच्) तम् । आत्मदेहं
(अपने शरीर की) = आत्मनः (स्वस्य) देहः, आत्मदेहः, (प० त०)
तम् । रक्ष (रक्षा करो) । हि (क्योंकि) । विद्वांसः (विद्वान् लोग) ।
ऋद्धं राज्यं (समृद्धशाली राज्य को) महीतल-स्पर्शनमात्रभिन्नं (केवल पृथिवी
तल का सम्बन्ध होने से अलग हुआ) = मह्याः (पृथिव्याः) तलं मही-
तलम् (प० त०), तस्य स्पर्शनं महीतलस्पर्शनं, (प० त०) तदेव प्रमाण-
मस्येति महीतलस्पर्शनमात्रम् (प्रमाणार्थे मात्रच्) तेन भिन्नं महीतलस्पर्श-
मात्रभिन्नम्, तत् । ऐन्द्रं (इन्द्रसम्बन्धी) = इन्द्रस्य इदम् ऐन्द्रम्, तत् । पदम्
आहुः (स्थान कहते हैं) ।

कोशः—कल्याण० = 'श्वः श्रेयसं शिवं मद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्
इत्यमरः । ऊर्जस्वलः = 'ऊर्जस्वलः स्यादूर्जस्वा यः ऊर्जातिशयान्वितः
इत्यमरः । ऋद्धं = 'ऋद्धं सम्पन्नधान्ये च सुसमृद्धौ च वाच्यवत्' इति मेदिनी
पदं = 'पदं व्यवसितत्राणस्यानलक्ष्म्याङ्घ्रिवस्तुपु' इत्यमरः ।

हिन्दी—इसलिए (कि जब तुम इस धेनु के बदले करोड़ों धेनु देने के
स्वयं समर्थ हो तो, हे नरेन्द्र !—) निरन्तर सुखों को भोगने वाले अत्यन्त
बलशाली अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि ऐश्वर्यवान् (अत एव) अपने
को बुद्धिमान् (समझने वाले) राजा लोग (अपने) समृद्धिशाली राज्य को

पृथिवीतल (पृथिवी) पर होने पर भी पृथिवी से अलग हुआ इन्द्र का स्थान (स्वर्ग) ही समझते हैं (तुम इस एक गो के पीछे उस स्वर्गसुख को क्यों त्याग रहे हो) ॥५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

सञ्जीविनी-एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शिलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव । इत्युपेक्षा । भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वात् द्विकर्मकः ब्रुवि तु द्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम् 'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिनामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविसासिगणेन च यत्सचते तदकीर्तितमांचरितं कविना इति ।

अन्वयः—मृगेन्द्रे एतावद् उक्त्वा विरते (सति) गुहागतेन अस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः अपि प्रीत्या तमेव अर्थं क्षितिपालम् ऊच्चैः इव अभाषत ।
वाच्यः—शिलोच्चयेन अपि प्रीत्या स एव अर्थः क्षितिपालम् ऊच्चैः इव अभाष्यत ।

व्याख्या—मृगेन्द्रे = सिंहे, एतावत् = 'एकातपत्रमित्यारभ्य पदमेन्द्रमाहुः' (श्लो० ४९-५०) इत्यन्तम्, उक्त्वा = कथयित्वा, विरते = तूष्णीभूते, (सति) गुहागतेन = गह्वरप्राप्तेन, अस्य = मृगेन्द्रस्य, प्रतिस्वनेन = प्रतिशब्देन, शिलोच्चयः = हिमालयः, अपि = समुच्चये, प्रीत्या = हर्षेण, तमेव = मृगेन्द्रोक्तमेव, अर्थम् = अविधेयम्, क्षितिपालं = पृथिवीपतिम् (दिलीपम्), ऊच्चैः = उच्च-स्वरेण, इव = यथा, अभाषत = अकथयत् ।

व्युत्पत्तिः—मृगेन्द्रे (सिंह के) = मृगाणाम् इन्द्रः मृगेन्द्रः (४० त०) तस्मिन् । एतावत् (इतना) = एतत् परिमाणस्य इति एतावत्, तत् । उक्त्वा (कहकर) । विरते (सति) (चुप हो जाने पर) । गुहागतेन (पर्वत कन्दरा से निकली हुई) = गुहायाः आगतः गुहागतः (४० त०) तेन । (इसकी) । प्रतिस्वनेन (प्रतिध्वनि से) । शिलोच्चयः अपि (पर्वत भी) । प्रीत्या (प्रेम से) तमेव अर्थं (मानो उसी बात को) । क्षितिपालं (भूपति राजा दिलीप को) = क्षिति (पृथिवी) पालयतीति क्षितिपालः, तम् । ऊच्चैः इव (जोर से जैसा) । अभाषत (कहा) ।

कोशः—मृगेन्द्रे = 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इत्यमरः । गुहागतेन = 'देव-
खातविले गुहा । गह्वरम्—' इत्यमरः । प्रीत्या = 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः'
इत्यमरः ।

हिन्दी—इतना (एकातपत्रं पदमेन्द्रमाहुः' श्लो० ४७-५० पर्यन्त)
कह कर सिंह के चुप हो जाने पर पर्वत-गुहा में मृगेन्द्र के स्वाभाविक जोरों से
कहे गये गुफा के शब्दों की प्रतिध्वनि के माध्यम से मानो हिमालय पर्वत भी
उन्हीं बातों को प्रेमपूर्वक (स्पष्ट शब्दों में) जोर-जोर से दुहराने लगा ॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

सञ्जीविनी—निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं
निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतः सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं
व्याक्रमणम् । 'नपुंसके भावे क्तः' । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ
सकथ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्पच्' इति षच् । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङोष् । किं वा
वक्ष्यतीति भीत्येव स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः । अत एव सुतरां दयालुः
तम् । सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्यो०' इत्यादिना सुशब्दात्तरप् 'किमे-
त्तिङ्ब्ययधादाम्बद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'
इत्यव्ययसंज्ञा ।

अन्वयः—देवानुचरस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवः पुनरपि उवाच (किम्भूतः)
तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः (अत एव) सुतरां दयालुः
(सन्) ।

वाच्य०—तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्षमाणेन दयालुना मनुष्य-
देवेन पुनरपि ऊचे ।

व्याख्या—देवानुचरस्य = महादेवसेवकस्य (सिंहस्य), वाचं = वचनं,
निशम्य = श्रुत्वा, मनुष्यदेवः = नरेशः (राजा दिलीपः), पुनरपि = भूयोऽपि,
उवाच = अकथयत् (किम्भूतः) तदध्यासितकातराक्ष्या = तदध्यासितेन (सिंहाक्रम-
णेन) कातराक्ष्या (मयार्द्रलोचनेन), धेन्वा = नन्दिन्या, निरीक्ष्यमाणः = विलोक्य-
मानः, (अत एव), सुतरां = नितरां, दयालुः = दयार्द्रः (सन्) ।

व्युत्पत्तिः—देवानुचरस्य (शिवजी के अनुचर सिंह को)=देवस्य (शिवस्य) अनुचरः देवानुचरः (ष० त०), तस्य । वाचं (बातों को) । निशम्य (सुनकर) । मनुष्येश्वरः (मानव-श्रेष्ठ, राजा दिलीप) । पुनरपि (फिर भी; उस सिंह से) । उवाच (कहने लगे) । (किम्भूतः=जो कि—) तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा (उस सिंह द्वारा आक्रान्त होने से व्याकुल नेत्र वाली नन्दिनी से) =तेन (सिंहेन) अध्यासितम् (आक्रान्तम्) तदध्यासितम् (तृ० त०), तदध्यासितेन कातरे (भीते) अक्षिणी यस्याः सा तदध्यासितकातराक्षी (बहु०), तथा । निरीक्ष्यमाणः (देखे जाते हुए) =निरीक्ष्यते इति निरीक्ष्यमाणः सुतरां । (अत्यन्त) । दयालुः 'सन्' (दयार्द्र होते हुए) ।

नोट—नवीन टीकाकार मूलोक्त 'कातराक्ष्या' की टीका 'नेत्राभ्याम्' इति भावः—ऐसा लिखते हैं । यह इसलिए संगत नहीं है कि—दाहिना अंग (पैर) सबल होने से बायीं करवट गिरना स्वाभाविक है (लकवा रोग भी बायीं करवट गिरता है) सिंहाक्रान्त होने पर नन्दिनी बायीं करवट गिर गयी थी, अतः बायीं आँख दबी होने के कारण दायीं खुली एक आँख से ही राजा को देख रही थीं—यह महाकवि का आशय है ।

हिन्दी—अपने को शंकर के अनुचर कहने वाले उस सिंह की बातों को सुनकर राजा दिलीप फिर उस सिंह से कहने लगे, उस समय उस सिंह से आक्रान्त होने पर नन्दिनी अपनी कातरपूर्ण (ऊपर की दायीं) खुली हुई एक आँख से राजा को देख रही थी और राजा अत्यन्त दयार्द्र हो रहे थे ॥१२॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।

राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

सञ्जी०—क्षतादिति । 'क्षणं हिंसायाम्' इति घातोः सम्पदादित्वात्किवप् ।

'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादानुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षताद् नाशात् त्रायत इति क्षत्रः । सुपीति योगविभागात्कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरयतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः । क्षत्रस्य क्षत्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्रशब्द इत्यर्थः । क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत् केवलरूढः किन्तु पंकजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य

क्षतस्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् ? उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । 'उप-
क्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्रा०' इत्या-
दिना मलीमसशब्दो निपापितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्य-
मरः । तैः प्राणैर्वा किम् ? निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एकातपत्रम्'
(२।४३) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम् ।

अन्वयः—उदग्रः क्षत्रस्य शब्दः क्षतात् त्रायते इति भुवनेषु रूढः किल ?
तद्विपरीतवृत्तेः राज्येन वा उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः (वा) किम् ?

वाच्य०—उदग्रेण क्षत्रस्य शब्देन 'भूयते' ।

व्याख्या—उदग्रः = उन्नतः (श्रेष्ठः), क्षत्रस्य = क्षत्रवर्णस्य, शब्दः =
वाचकः, क्षतात् = नाशात्, त्रायते = रक्षति, इति = हेतोः, भुवनेषु = लोकेषु,
रूढः = प्रसिद्धः, किल = निश्चये, तद्विपरीतवृत्तेः = पूर्वोक्तक्षत्रशब्दविरुद्ध-
व्यापारस्य, राज्येन = राजभावेन, वा = अथवा, उपक्रोशमलीमसैः = निन्दा-
मलिनैः, प्राणैः = असुभिः, किम् = किं प्रयोजनम् ? । (निन्दितस्य सर्वं व्यर्थ-
मित्यवसेयम् ।) ।

व्युत्पत्तिः—उदग्रः (श्रेष्ठः) । क्षत्रस्य शब्दः (क्षत्रिय शब्दः) = क्षतात्
(नाशात्) त्रायते (रक्षति) इति क्षत्रः, तस्य क्षत्रस्य (छद् = छट्न् = क्षत्रः)
शब्दः (वाचकः) । क्षतात् त्रायते (विपत्ति से त्राण करने वाला) । इति (इस
व्युत्पत्ति से) । भुवनेषु (संसार में) । रूढः किल (प्रसिद्ध है ही) । तद्वि-
परीतवृत्तेः (उस क्षत्र शब्द से विपरीत व्यापार करने वाले) = तस्य
(क्षत्रशब्दस्य) विपरीता, तद्विपरीता (प० त०) तद्विपरीता वृत्तिः (व्यापारः)
यस्य सः तद्विपरीतवृत्तिः, तस्य (बहु०) । राज्येन (राज्य से) = राज्ञः
भावः कर्म वा राज्यं तेन । वा (अथवा) । उपक्रोशमलीमसैः (निन्दा
से मलिन हुए) = उपक्रोशेन (निन्दया) मलीमसाः (मलिनाः) उपक्रोशम-
लीमसाः, (तृ० त०) तैः । प्राणैः (जीवन से) । किम् (क्या प्रयोजन ?
दोनों व्यर्थ हैं) ।

कोशः—किम् = 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि' इति मेदिनी ।
उपक्रोशमलीमसैः = 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इति, 'मलीम-
सन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इति चामरी ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) श्रेष्ठवाचक जो अत्र शब्द है वह (अतात् प्रायते इति अत्रः) विनाश से बचाने काला इस अर्थ से जगत् में प्रख्यात है । इस शब्दार्थ के विपरीत व्यापार करने वाले यानि नाश से नहीं रक्षा करने वाले पुरुषार्थी राजा का राज्य अथवा निन्दा (अपकीर्ति) से मलिन हुआ जीवन दोनों व्यर्थ है । (अतः हे शिवानुचर !) मृगेन्द्र ! इस नन्दिनी को अगर मैं नहीं बचा सका तो मुझ सूर्यवंशी अत्रिय राजा के लिए मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥५३॥

‘अथैकघेनोः’ (श्लो० ४९) इत्यस्योत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षे विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।

इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥५४॥

सञ्जी०—कथमिति । अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद् दानात् त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने । (विश्राणनं वितरणम्’ इत्यमरः । कथं नु शक्यः । न शक्य इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामघेनोः ‘पञ्चमी विभक्ते’ इति पञ्चमी । अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह रुद्रौजसेति । अस्यां गवि त्वया कर्त्ता प्रहृतं तु प्रहारस्तु । नपुंसके भवे क्तः । रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः । ‘सप्तम्यधिकरणे च’ इति सप्तमी ।

अन्वयः—महर्षेः अनुनयः अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् कथं नु शक्यः ? इमां सुरभेः अनूनाम् अवेहि, अस्यां त्वया प्रहृतं तु रुद्रौजसा ।

वाच्य०—महर्षेः अनुनयेन शक्येन (भूयते) । इयं सुरभेः अनूना (त्वया) अवेयतां, प्रहृतेन (अभूयत) ।

व्याख्या—महर्षेः=गुरोः वसिष्ठस्य, अनुनयः=प्रकोपप्रसादनम्, अन्यपयस्विनीनां=इतरप्रचुरदुग्धवतीनां गवाम्, विश्राणनात्=प्रदानात् कथं=केन प्रकारेण, नु=वा, शक्यः=साध्यः ? (यतः) इमां=नन्दिनीम्, सुरभेः=कामघेनोः, अनूनाम्=अन्यूनाम्, (तद्रूपाम्), अवेहि=जानीहि, अस्यां=पुरोवर्तिन्यां नन्दिन्यां, त्वया=भवता, प्रहृतं तु=आक्रमणं तु, रुद्रौजसा=शंकर-प्रभावेण (अवेहि जानीहि) ।
रघु ॥६

व्युत्पत्तिः—महर्षेः (महामुनि वसिष्ठ के) = महाश्वासी ऋषिः महर्षिः (कर्मधा०) तस्य महर्षेः । अनुनयः (क्रोध का कारण) । अन्यपयस्विनीनां (दूसरी दूध वालो गायों के) = पयः आसाम् अस्तीति पयस्विन्यः अन्याश्च ताः पयस्विन्यः अन्यपयस्विन्यः (कर्मधा०) तासाम् । विश्राणनात् (देने से) । कथं नु शक्यः ? (किस प्रकार हो सकता है ?) । (यतः) इमां सुरभेः (इस नन्दिनी को) अनूनां (कामधेनु के समान ही) = न ऊना अनूना (नब्) ताम् । अवेहि (जानो) अस्यां (इस पर) । त्वया प्रहृतन्तु (तुम्हारा आक्रमण तो) । रुद्रोजसा (शङ्कर के प्रभाव से ही सम्भव हो सका है) = रुद्रस्य ओजः रुद्रोजः (ष० त०) तेन ।

कोशः—विश्राणनात् = 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । रुद्रोजसा = 'ओजो दीप्तिप्रकाशयोः' इत्यने० ।

हिन्दी—हे सिंह ! 'गाः कोटिशः [श्लो० ४०] यह आपका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—महर्षि वसिष्ठ के क्रोध का निवारण अन्य गायों के देने से कैसे हो सकता है ? क्योंकि इस नन्दिनी को आप कामधेनु के समान ही समझें (कामधेनु तो संसार में एक ही है न ?) इसे कौन मार सकता है ? फिर भी इस पर जो आक्रमण हुआ है (उसमें आपका पौरुष नहीं), वह तो भगवान् शङ्कर के प्रताप से ही हो सका है ॥५४॥

तहि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रेयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद् विहिता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः ॥५५॥

सञ्जी०—सेयमिति । सेयं गोमया निष्क्रीयते प्रत्याह्वियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रेयः प्रतिशीर्षकम् । 'एरच्' इत्यञ्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रेयस्तेन भवत्तस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । उक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहिता न स्यात्, मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् स चालूतो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुभुजं संरक्ष्यमिति भावः ।

अन्वयः—सा इयं मया स्वदेहापणनिष्क्रयेण भवतः मोचयितुं न्याय्या (इत्थं प्रकारेण) तव पारणा विहिता न स्यात्, च मुनेः क्रियार्थः अलुप्तः भवेत् ।

वाच्य०—तथा अनया भवतः मोचयितुं न्याय्या (भूयते) इव पारणया विहतया न (भूयेत) क्रियार्थेन च अलुप्तेन (भूयेत) ।

व्याख्या—सा=पूर्वोक्ता, इयम्=एषा गौः, मया=दिलीपेन, स्वदेहापण-निष्क्रयेण=निजशरीरत्यागमूल्येन. भवतः=त्वत्तः, मोचयितुं=त्याजयितुम्, न्याय्या=उचिता, (इत्थं प्रकारेण) तव=भवता, पारणा=व्रतान्तभोजनम्. विहता=नष्टा, न=नहि, स्यात्=भवेत्, मुनेः=वसिष्ठस्य, क्रियार्थश्च=होमादिकृत्यसाधनीभूतश्च, अलुप्तः=अनष्टः, भवेत्=स्यात् ।

व्युत्पत्तिः—सा इयं (सो कामधेनु के तुल्य इस नन्दिनी को) । मया (मैं) । स्वदेहापणनिष्क्रयेण (अपना शरीर समर्पण करके)=स्वस्य देहः स्वदेहः (प० त०), स्वदेहस्य अर्पणम् स्वदेहापणम् (प० त०), स्वदेहापणम् एव निष्क्रयः (मूल्यम्) स्वदेहापणनिष्क्रयः, तेन । भवतः (आप से) । मोचयितुं (छुड़ाना) न्याय्या (न्यायसंगत है)=न्यायात् अनपेया न्याय्या । (इत्थं=ऐसा करने पर) तव (आपकी) । पारणा (व्रतान्त भोजन) । विहता (नष्ट) । न स्यात् (नहीं होगी) । च (और) । मुनेः (वसिष्ठ मुनि का) । क्रियार्थश्च (होमादि रूप प्रयोजन भी)=क्रियायाः अर्थः (प्रयोजनम्) क्रियार्थः (ष० त०) । अलुप्तः भवेत् (लुप्त नहीं होगा)=न लुप्तः अलुप्तः (नष्ट०) ।

कोशः—क्रियार्थाः=‘उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रियाः’ इति, ‘अर्थाऽभिधेयरैवस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु’ इति चामरौ ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) सो कामधेनु के तुल्य इस नन्दिनी को मैं अपना शरीर देकर आपसे छुड़ा लूँ, यह मेरे लिए न्यायसङ्गत है, ऐसा करने पर (जैसा कि आपने कहा था—(‘शोणितपारणा में’ श्लो० ३९) आपका व्रतान्त भोजन (पारणा) भी हो जायगा और (इस नन्दिनी के जीवित रहने पर) महर्षि गुरु वसिष्ठ की (इस नन्दिनी के दुग्धादि से हो रही) होमादि क्रिया भी नष्ट नहीं होगी ॥५५॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानप्रीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

सञ्जी—भवानिति । परवान् स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः परा-
धीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवे-
त्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः । 'हि
हेताववधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः । महता यत्नेन
रक्षयत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य
विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनान्नगेन, नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे
स्थातुं शक्यं न हि ।

अन्वयः—परवान् भवान् अपि इदम् अवैति हि तव देवदारौ महान् यत्नः
रक्ष्यं विनाश्य स्वयम् अक्षतेन नियोक्तुः अग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

वाच्यं—परवता भवता इदम् अवेयते तत्र देवदारौ महता यत्नेन
(भूयते), रक्ष्यं विनाश्य स्वयम् अक्षतः स्थातुं न शक्नुयात् ।

व्याख्या—परवान्=पराधीनः, भवानपि=श्रीमानपि, इदम्=कर्त्तव्य-
महत्त्वम्, अवैति=जानाति, हि=यतः, तव=भवतः, देवदारौ=पुरोवर्तिदेव-
दारुवृक्षरक्षणे, महान्=अतिशयः, यत्नः=प्रयासः (अस्ति) । रक्ष्यं=रक्षितुं
योग्यं वस्तु, विनाश्य=विनाशं गतयित्वा, स्वयम्=आत्मना, (नियुक्तेन)
अक्षतेन=अनाहतेन, नियोक्तुः=आदेष्टुः, अग्रे=पुरतः, स्थातुं=स्थितिं
कर्तुम्, शक्यं=शक्तुमर्हम्, नहि=नास्ति ।

व्युत्पत्तिः—परवान् (पराधीन)=परः (स्वामी) अस्यास्तीति पर-
वान् । भवानपि (आप भी) । इदम् (इसको) । अवैति (जानते हैं) । हि
(क्योंकि) । तव (आपके) । देवदारौ (देवदारु वृक्ष के रक्षण में) महात्
यत्नः (बहुत बड़ा प्रयत्न है) । रक्ष्यं (रक्षणीय वस्तु का) । विनाश्य (नाश
करके रक्षक-) । स्वयम् अक्षतेन (स्वयं विना घायल हुए)=न क्षतः अक्षतः
तेन (नष्ट०) अक्षतेन । नियोक्तुः (स्वामी के) । अग्रे (आगे) । स्थातुं शक्यं=
(उरस्थित होने के लिए समर्थ) । नहि (नहीं हो सकता) ।

कोषः—परवान् = 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः ।
स्वयम् = 'स्वयमात्मना' इत्यमरः ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र ! आप भी शङ्कर के किंकर हैं, अतः) पराधीन आप भी जानते ही हैं कि पुरोवर्ती इस देवदारु वृक्ष के संरक्षण में आपका कितना बड़ा प्रयास रहता है । (यह सत्य ही है कि स्वामी के) रक्षा करने के योग्य वस्तु का नाश करके स्वयं बिना नष्ट (घायल) हुए ईमानदार संरक्षक स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिए समर्थ नहीं हो सकता । (मैं इस नन्दिनी को आपके कहने मात्र से गँवा कर गुरु वसिष्ठ के सामने इस अक्षत शरीर से कैसे उपस्थित होऊँगा) ॥५६॥

सर्वथा चेतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

सञ्जीविनी—किमपि । किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्यादयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति - मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षं व । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः ।

अन्वयः—किमपि अहं तव अहिंस्यः मतः चेत् (तर्हि) मे यशःशरीरे दयालुः भव । (यतः) मद्विधानाम् एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु ।

वाच्यं—मया तव अहिंस्येन मतेन (भूयते) त्वया दयालुना (भूयताम्) भौतिकेषु पिण्डेषु मद्विधानाम् अनास्थया खलु (भूयते) ।

व्याख्या—किमपि = अथवा, अहं = दिलीपः, तव = भवतः (सिंहस्य), अहिंस्यः = अमारणीयः, मतः = इष्टः, चेत् = (तदा), मे = मम, यशःशरीरे = कीर्तिदेहे, दयालुः = कारुणिकः, भव = स्याः (त्वम्), मद्विधानां = मादृशानां

(राज्ञाम्), एकान्तविध्वंसिषु = अवश्यविनाशिषु, भौतिकेषु = पृथिव्यादिभूत-
विकारेषु, पिण्डेषु; अनास्था = अनपेक्षा, खलु = निश्चयैव ।

व्युत्पत्तिः— किमपि (किंवा) । अहं (मैं) । तव मतः अहिंस्य (आपकी
समझ में अवध्य हूँ) = हिंसितुं योग्यः हिंस्यः, न हिंस्यः अहिंस्यः (नञ्०) । चेत्
(तो) । मे (मेरे) । यशःशरीरं (यशरूप शरीर के विषय में) = यशः एव शरीरं
यशःशरीरम् (कर्मघा०) तस्मिन् । दयालुः भव (दयायुक्त होवें) । (यतः =
क्योंकि) । मद्भिधानां (मेरे ऐसे लोगों की) = मम विद्या इव विद्या येषां ते
(बहु०) मद्भिधाः, तेषाम् । एकान्तविध्वंसिषु (निश्चय ही नष्ट होने वाले)
= एकान्तं (नियमेन अवश्यं) विध्वंसिनः (नाशशीलाः) एकान्तविध्वंसिनः
(कर्मघा०) तेषु । भौतिकेषु (पाँच महाभूतों से बना = भूतानां (पृथिव्यादीनां)
विकाराः भौतिकाः, तेषु भौतिकेषु पिण्डेषु (शरीर पर) । अनास्था खलु
(इच्छा नहीं रहती—यह ध्रुवसत्य है) ।

कोशः—यशः = 'कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । एकान्त० = 'तीव्र' का-
न्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च' इत्यमरः । पिण्डेषु = 'पिण्डी गोले बले सान्दे
देहागारैकदेशयोः । देहभावे निकाये च' इति मे० ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) किंवा यदि मैं आपकी समझ में अवध्य हूँ तो
मेरे यशरूपी शरीर के विषय में आप कृपालु होवें, क्योंकि निश्चय ही विनाश
होने वाले पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतों से
बने इस शरीर पर मेरे ऐसे लोगों की आस्था नहीं रहती—यह ध्रुव
सत्य है ॥५७॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद् भूतनाथानुग ! नाहंसित्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

सञ्जीविनी—सम्बन्धमिति । सम्बन्धं सख्यम् । आभाषणमालापः पूर्व
कारणं यस्य तमाहुः 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । स तादृक्सम्बन्धो वनात्ते
सङ्गतयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः । तत्ततो हेतोर्हं भूतनाथानुग ! शिवानुचर !
एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याञ्जाम् ।
'प्रणयास्त्वमी विश्रम्भयाञ्जाप्रेमाणः' इत्यमरः । विहन्तुं नाहंसि ।

अन्वयः—सम्बन्धम् आभाषणपूर्वम् (विद्वांसः) आहुः सः वनान्ते सङ्गतयोः नो वृत्तः । तद् भूतनाथानुग ! त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि ।

वाच्य०—सम्बन्धः आभाषणपूर्वः उच्यते (विद्वद्भिः) तेन वृत्तेन (अभूयत) त्वया प्रणयः विहन्तुं नाह्यते ।

व्याख्या—सम्बन्धं = सख्यम्, आभाषणपूर्वम् = संलापप्रथमम्, आहुः = ब्रुवन्ति (विद्वांसः), सः = सम्बन्धः, वनान्ते = अरण्यप्रान्ते, सङ्गतयोः = मिलितयोः, नो = आवयोः, वृत्तः = सम्भूतः, तत् = तस्मात् हेतोः, भूतनाथानुग ! = आशुतोषानुचर ! त्वं = मृगेन्द्रः, सम्बन्धिनः = सख्यरूपसम्बन्धतः, मे = मम, प्रणयं = याच्याम् (निवेदनम्); विहन्तुं = नाशयितुम्, न = नहि, अर्हसि = योग्योऽसि ।

व्युत्पत्तिः—सम्बन्धः (मैत्री) । आभाषणपूर्वम् (बात-चीत से भी हो जाती है—ऐसा) = आभाषणम् (आलापः) पूर्वं (कारणं) यस्य स आभाषणपूर्वः बहु० तम् । विद्वांसः (विद्वान् लोग) । आहुः (कहते हैं) । सः (वह मैत्री) । वनान्ते (वन में) = वनस्य अन्तः वनान्तः (ष० त०) तस्मिन् । सङ्गतयोः (बात-चीत करने से) । नो (हम दोनों की) । वृत्तः (हो गयी है) । तत् (इसलिए) । भूतनाथानुग । (हे शिवानुचर !) = भूतानां (प्राणिनां) नाथः भूतनाथः (ष० त०) भूतनाथस्य अनुगः (अनु = पश्चात् गच्छीत्यनुगः) भूतनाथानुगः (ष० त०) तत्सम्बुद्धौ । त्वं (आप) । सम्बन्धिनः (मेरे मित्र—होकर) = सम्बन्धः (मैत्री) अस्यास्तीति सम्बन्धी, तस्य सम्बन्धिनः । मे (मुझ दिलीप की) । प्रणयं (प्रार्थना को) । विहन्तुं (ठुकराने के लिए—आप) । न (नहीं) अर्हसि (योग्य हैं ।) ।

कोशः—आभाषणं = 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । वनान्ते = 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः' इति हैमः । प्रणयं = 'प्रणयास्त्वमी । विश्वम्भयाच्याप्रेमाणः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(हे सिंह !) ऐसा विद्वानों ने कहा है कि एक-दूसरे की मैत्री परस्पर बातचीत करने पर भी हो जाती है सो तो अब आप—हम दोनों में वार्तालाप करने से हो चुकी है इसलिए हे आशुतोषानुचर ! अब आप मेरे मित्र होने के नाते मेरी (अपने मित्र दिलीप की) प्रार्थना को ठुकरा नहीं सकते ।

(भूतनाथानुग ! कहने का तात्पर्य यह है कि दीन-दुःखी प्राणियों की मनः-कामना को पूर्ण करने वाले आशुतोष शङ्कर सर्वोपरि हैं, उनके अनुचर होने के नाते आप भी दुःखहर्ता होंगे ही) ॥५८॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ॥४९॥

सञ्जी०—तथेतीति । तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय । 'कपो सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णो हरिं विदुः' इति शाश्वतः । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात् प्रतिबन्धाद्विमुक्ता बाहुयस्य सः दिलीपः । न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् स्वदेहम् । अमिषस्य मांसस्य । 'पल्लं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः । पिण्डं कवलमिव । उपानयत् समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ।

अन्वयः—तथा इति गाम् उक्तवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः स न्यस्तशस्त्रः (सन्) स्वदेहम् अमिषस्य पिण्डम् इव उपानयत् ।

वाच्य०—प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुना तेन न्यस्तशस्त्रेण स्वदेहः अमिषस्य पिण्डः इव उपानीयत ।

व्याख्या—तथा=यथाऽभिलषति भवान् तथैवाऽस्तु, इति=इत्थम्, गाम्=गिरम् (वचनम्), उक्तवते=कथितवते, हरये=सिंहाय, सद्यः=तत्क्षणं, प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः=प्रतिबन्धस्त्यक्तभुजः, सः=दिलीपः, न्यस्तशस्त्रः=त्यक्तायुधः, (सन्), स्वदेहम्=निजशरीरम्, अमिषस्य=मांसस्य, पिण्डमिव=गोलकमिव, उपानयत्=समर्पितवान् ।

व्युत्पत्तिः—तथा (वैसा ही हो) । इति गां (इस वचन को) । उक्तवते (कहते ही) । हरये (सिंह के लिए) ! सद्यः (तत्क्षण ही) । प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः (बन्धन से मुक्त बाहु वाले)=प्रतिष्टम्भात् (प्रतिबन्धात्) विमुक्तः प्रतिष्टम्भविमुक्तः (ष० त०), प्रतिष्टम्भविमुक्तः बाहुः यस्य सः (बहु०) । सः (उस राजा दिलीप ने) । न्यस्तशस्त्रः ('सन्') (घनुष-बाण को त्यागते हुए)=न्यस्तं (त्यक्तं) शस्त्रं येन सः (बहु०) । स्वदेहम् (अपने शरीर को)=स्वस्य देहः (शरीरम्) स्वदेहः (ष० त०) तम् । अमिषस्य पिण्डमिव (मांसपिण्ड के समान) उपानयत् (समर्पण कर दिया) ।

कोशः—गाम् = 'गौरुदके दृशि' । 'स्वर्गे दिशि पशौ रश्मौ व्रते भूमा-
विषी गिरि ।' इत्यने० । आमिषस्य = 'पिशितं तरलं मांसं पललं क्रव्यमामि-
षम्' इत्यमरः ।

हिन्दी—(दुःखातुर दिलीप के वचनों को सुनकर) सिंह के 'तथास्तु'
(जैसा आप चाहते हैं वैसा ही हो) कहने पर तत्काल ही राजा दिलीप का
तरकस से अवरुद्ध (सटा हुआ) बाहु अलग हो गया और राजा दिलीप ने
धनुषबाण त्यागकर निश्चेष्ट होकर अपने शरीर को मांस-पिंड के समान सिंह
को (खाने के लिए) अर्पित कर दिया—सिंह के आगे सिर झुका कर घुटनों
को टेक दिया ॥५९॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

सञ्जीविनी—तस्मिन्निति । तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत
उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्याधोमुखस्य 'स्यादवाङ्प्यधोमुखः' इत्यमरः ।
प्रजानां पालयितुः राज्ञ उपर्युपरिष्ठात् 'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपातः । विद्या-
धराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातम् उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य
प्रजानां पालयितुः उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

वाच्य०—विद्याधरहस्तमुक्तया पुष्पवृष्ट्या पते ।

व्याख्या—तस्मिन् = पूर्वोक्ते, क्षणे = समये, (मृगेन्द्राय स्वदेहापणकाले)
उग्रं = भीषणम्, सिंहनिपातं = मृगेन्द्रनिपतनम्, उत्पश्यतः = तर्कयतः, अवाङ्-
मुखस्य = अधोमुखस्य, प्रजानां = जनानाम्, पालयितुः = रक्षकस्य (दिलीपस्य),
उपरि = उपरिष्ठात्, विद्याधरहस्तमुक्ता = देवयोनिविशेषाणां हस्तैः पतिता,
पुष्पवृष्टिः = कृसुमवर्षणम्, पपात = अपतत् ।

व्युत्पत्तिः—तस्मिन् क्षणे (उस समय) । उग्रम् (भयंकर) । सिंहनिपातं
(सिंह के आक्रमण की) = सिंहस्य निपातः (निपतनं) सिंहनिपातं, (ष०
त०) तम् । उत्पश्यतः (चिन्ता करते हुए) । अवाङ्मुखस्य (नीचे को
मुख किये) = अवाङ् (अधः) मुखं यस्य सः अवाङ्मुखः (बहु०), तस्य ।
प्रजानां पालयितुः (प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के) । उपरि

(ऊपर) । विद्याधरहस्तमुक्ता (विद्याधर देवताओं के हाथों से छोड़ी गयी) = विद्याधराणां हस्ताः विद्याधरहस्ताः (ष० त०) तैः मुक्ता विद्याधरहस्तमुक्ता (तृ० त०) । पुष्पवृष्टिः (फूलों की वर्षा) = पुष्पस्य वृष्टिः पुष्पवृष्टिः (ष० त०) । पपात (हुई) ।

कोशः—क्षणं=‘क्षणं व्यापारसून्यत्वमुहूर्तौत्सवपर्वसु’ इति रुद्रः । अवाङ्मुखस्य = ‘स्यादवाङ्म्यघ्रोमुखः’ इत्यमरः । विद्याधर० = ‘विद्याधराप्सरो-यक्ष.....देवयोनीयः’ इत्यमरः ।

हिन्दी—उस सिंह के सामने घुटने टेक कर अधोमुख आत्म-समर्पण करने के उपरान्त अपने शरीर पर उस सिंह का भयंकर आक्रमण (नोच कर खा जाने) के विषय में विचार करने वाले प्रजापालक उस दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवतागण आकाश से फूलों की वर्षा करने लगे ॥६०॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।

ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

सञ्जीविनी—उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् ‘उपमानादाचारे’ इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं, ‘हे वत्स ! उत्तिष्ठ’ इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे । प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा प्रस्रविणी तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न (ददर्श) ।

अन्वयः—राजा अमृतायमानम् ‘वत्स ! उत्तिष्ठ’ इति उत्थितम् वचः निशम्य उत्थितः सन् अग्रतः प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श (तं) सिंहं न ददर्श ।

वाच्य०—राजा उत्थितेन सता प्रस्रविणी गोः स्वा जननी इव ददृशे सिंहो न (ददृशे) ।

व्याख्या—राजा = नृपो दिलीपः, अमृतायमानम् = पीयूषतुल्यम्, “वत्स = पुत्र !, उत्तिष्ठ = उत्थितो भव”, इति = इत्याकारकम्, उत्थितं = समुद्भूतम्, वचः = वचनम्, निशम्य = श्रुत्वा, उत्थितः = ऊर्ध्वम्, अवस्थितः, सन् = भवन्, अग्रतः = अग्रे, प्रस्रविणीं = क्षीरस्रावणीम्, गां = नन्दिनीम्, स्वां = निजाम्, जननीम् इव = मातरम् इव, ददर्श = अपश्यत्, (तं) सिंहं = केशरिणं न ददर्श = न अपश्यत् ।

व्युत्पत्तिः— राजा (दिलीप ने) । अमृतमिव आचरतीति अमृतायमानम्, तत् । “वत्स ! उत्तिष्ठ” (बेटा ! उठ जाओ ?) । इति (इस प्रकार के) । उत्थितं (निकले) । वचः (वचन को) । निशम्य (सुनकर) । उत्थितः सन् (उठते हुए ही) अग्रतः (आगे में) । प्रस्रविणीं (स्तन से—दूध बहाती हुई) = प्रस्रवः (दुग्धस्रावः) अस्ति यस्याः सा, ताम् । गां (उस—नन्दिनी गौ को) । स्वां जननीमिव (अपनी माँ की तरह) । ददर्श (देखा) । (तं) सिंहं न ददर्श (किन्तु—उस सिंह को नहीं देखा) ।

कोशः—अमृतायमानं = ‘पीयूषममृतं सुधा’ इत्यमरः । वचः... ‘भाषितं वचनं वचः’ इत्यमरः ।

हिन्दी—(राजा दिलीप के ऊपर जब पुष्पवर्षा हो रही थी, उस समय मनुष्य की वाणी में—) ‘‘पुत्र ! उठो ?’’ ऐसे अमृत के समान मधुर (नन्दिनी के) वचन को सुनकर राजा दिलीप ज्यों ही उठने लगे कि सामने उन्होंने अपने स्तनों द्वारा वात्सल्यभाव से दूध बहाती हुई कामधेनु की पुत्री उस नन्दिनी गौ को अपनी स्नेहमयी जननी के समान देखा, (उस समय) सिंह दिखाई नहीं पड़ा—नन्दिनी का मायास्वरूप वह सिंह गायब हो चुका था ॥६१॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाष्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहृतुं किमुतान्यहिंसाः ॥६२॥

सञ्जीविनी—तमिति । विस्मितमाश्रयं गतम् । कर्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाष्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहृतुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंसाः घातुकाः ‘शरारुघातुको हिंसः’ इत्यमरः । ‘नमिकम्पिस्म्यजसकमहिसदीपो रः’ इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । ‘बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे’ इत्यमरः ।

अन्वयः—विस्मितं तं धेनुः उवाच—‘‘साधो मया मायाम् उद्भाष्य (त्वं) परीक्षितोऽसि ऋषिप्रभावात् मयि अन्तकोऽपि प्रहृतुं न प्रभुः (अस्ति) किमुत अन्यहिंसाः ?’’

वाच्यं०—विस्मितः स धेन्वा ऊचे—‘अहं त्वां परीक्षितवती अस्ति, अन्तकेन अपि प्रभुगा (भूयते) अन्यहिंसैः ।’

व्याख्या—विस्मितं = आश्चर्यम्, तं = दिलीपम् धेनुः = नन्दिनी गौः, उवाच = जगाद-साधो = हे तपस्विन् !, मया = नन्दिन्या, मायां = मृगेन्द्ररूपां शाम्बरीम्, उद्भाष्य = कल्पयित्वा, (त्वम्), परीक्षितोऽसि = परीक्षाविषयी-कृतोऽसि, ऋषिप्रभावात् = महर्षिवसिष्ठप्रसादात्, मयि = नन्दिन्याम्, अन्त-कोऽपि = यमोऽपि, प्रहतुं = हन्तुम् न = नहि, प्रभुः = समर्थः, अन्यहिंसाः = इतरघातुकाः (सिंहादयः), किमुत = बलवत् ? (न प्रभवः = न समर्थाः स्युः) ।

व्युत्पत्तिः—विस्मितं (आश्चर्ययुक्त) । तं (उग्र दिलीप को) । धेनुः उवाच (नन्दिनी ने कहा —) । साधो (हे महात्मन् !) । मया (मैंने) । मायाम् उद्भाष्य (मायारूपी सिंह को उत्पन्न करके) । (त्वं) परीक्षितः असि (तुम्हारी परीक्षा की है) । ऋषिप्रभावात् (महर्षि वसिष्ठ के प्रताप से) = ऋषेः प्रभावः ऋषिप्रभावः (प० त०) तस्मात् । मयि (मुझ पर) । अन्तकोऽपि (यमराज भी) । प्रहतुं न प्रभुः (प्रहार करने में समर्थ नहीं है) । अन्यहिंसाः किमुत ! (दूसरे हिंसक सिंहादि की बात ही क्या ?) = अन्ये च ते हिंसाः अन्यहिंसाः (कर्मघा०) ।

कोशः—मायां = 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमरः ।

हिन्दी—(अपने ऊपर पुष्पवृष्टि होते हुए देख) आश्चर्यचकित राजा दिलीप से (मनुष्य की वाणी में पुनः) नन्दिनी ने कहा—हे तपस्विन् ! यह जो कुछ हुआ है वह सब माया का सिंह उत्पन्न करके मेरे द्वारा तुम्हारी परीक्षा ली गयी है । क्या तुम यह नहीं जानते कि महर्षि वसिष्ठ के तप-प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने में समर्थ नहीं हो सकता, इस हिंसक सिंहादि का तो कहना ही क्या ? (वत्स ! अब तुम प्रसन्न होकर सुनो—) ॥६२॥

भक्त्या गुरो मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ! न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नान् ॥५३॥

सञ्जी०—भक्त्येति । हे पुत्र ! गुरो भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । “क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्” इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयम-यम् 'देवाद वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि—मां केवलानां पयसां प्रसूति कारणं नावेहि न विद्धि ।

किन्तु प्रसन्नां मां कामान् दोग्धीति कामदुघा तापवेहि । 'दुहः कट्यश्च' इति कप्रत्ययः ।

अन्वयः—पुत्र ! गुरौ भक्त्या च मयि अनुकम्पया ते प्रीता अस्मि । वरं वृणीष्व मां केवलानां पयसां प्रसूति न अवेहि, प्रसन्नां (मां) कामदुघाम् (अवेहि) ।

व्याख्या—पुत्र = हे वत्स, गुरौ = वसिष्ठे, भक्त्या = श्रद्धया, च = अपि, मयि = नन्दिन्याम्, अनुकम्पया = कृपया, ते = तुभ्यम्, प्रीता = प्रसन्ना, अस्मि = भवामि । (अतः त्वं) वरं = स्वाभीष्टम् अर्थम्, वृणीष्व = याचस्व, मां = नन्दिनीम्, केवलानाम् = एकाकिनाम्, पयसां = क्षीराणाम्, प्रसूति = जनयित्रीम्, न = नहि, अवेहि = जानीहि, (किन्तु —) प्रसन्नां = प्रीताम्, (मां = नन्दिनीम्), कामदुघां = मनोरथपयस्विनीम् (अवेहि) :

व्युत्पत्तिः—पुत्र (हे वत्स !) । गुरौ (गुरु वसिष्ठ में) । भक्त्या (भक्ति रखने से) । च (और) । (मयि मेरे विषय में) । अनुकम्पया (दया रखने से) । ते प्रीता अस्मि (मैं—तुम पर प्रसन्न हूँ) । वरं वृणीष्व (तुम—वर माँगो) । माम् (मुझको) । केवलानां (केवल) । पयसां प्रसूति (दूध देने वाली) । न अवेहि (मत समझो) । प्रसन्नां मां प्रसन्न होने पर मुझे । कामदुघाम् अवेहि (मनोरथ को पूर्ण करनेवाली समझो) ।

कोशः—अनुकम्पया = 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । पयसां 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः ।

हिन्दी—(मायामृगेन्द्र के वृत्त कहने के उपरान्त नन्दिनी ने राजा दिलीप से कहा—) पुत्र ! (इतने पराक्रमी चक्रवर्ती राजा होते हुए भी तुम्हारे) गुरु वसिष्ठ में भक्ति और मेरे (गौ के) विषय में दया (अनुकम्पा) रखने से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम मनोऽभिलषित वर माँगो, (राजन् !) मुझे केवल दूध देनेवाली साधारण गौ मत समझो, प्रसन्न होने पर सभी मनोरथ को देनेवाली (मुझ कामधेनु की पुत्री को कामधेनु ही) समझो ॥६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्ताजितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

सञ्जीविनी—तत इति । ततो मानितार्थी । स्वहस्ताजितो वीर इति शब्दो येन, एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्ती समानीय सन्धाय । अञ्जलि बद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य कर्तारं प्रवर्तयितारम् । अतएव रघु-कुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ।

अन्वयः—ततः मानितार्थी स्वहस्ताजितवीरशब्दः स हस्ती समानीय वंशस्य कर्तारम् अनन्तकीर्तिं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ।

वाच्यः—मानितार्थिना स्वहस्ताजितवीरशब्देन तेन वंशस्य कर्ता अनन्तकीर्तिः तनयः ययाचे ।

व्याख्या—तत 'वरं वृणीष्वे'ति श्रवणानन्तरम्, मानितार्थी = समादृत-याचकः, स्वहस्ताजितवीरशब्दः = निजभुजबलप्राप्तवीरपदवीकः, सः = दिलीपः, हस्ती = पाणौ, समानीय = सन्धाय, (अञ्जलि बद्ध्वा), वंशस्य = कुलस्य, कर्तारं = प्रवर्तयितारम्, अनन्तकीर्तिम् = स्थिरयशसम्, तनयं = पुत्रम्, सुदक्षिणायां = तदाख्यस्वपत्न्याम्, ययाचे = प्रार्थयामास ।

व्युत्पत्तिः—ततः ('वरं वृणीष्व' ऐसा नन्दिनी के कहने पर) । मानितार्थी (याचकों को सन्तुष्ट करने वाले) = मानिताः (आदृताः), अर्थिनः (याचकाः) येन सः (बहु०) । स्वहस्ताजितवीरशब्दः (अपने हाथों से 'वीर' विरुद्धावलि को प्राप्त करने वाले) = स्वस्य हस्तः स्वहस्तः (ष० त०), स्वहस्तेन अर्जितः (प्राप्तः), 'वीर' इति शब्दः येन सः (बहु०) । स (उन राजा दिलीप ने) । हस्ती समानीय (दोनों हाथों को जोड़कर) । वंशस्य कर्तारं (वंश को प्रख्यात करने वाले) । अनन्तकीर्तिं (अपार कीर्तिशाली) = न विद्यते अन्तः यस्याः सा अनन्ता, अनन्ता (अपारा), कीर्तिः (यशः), यस्य सः अनन्तकीर्तिः, तम् (बहु०) । तनयं (पुत्र को) । सुदक्षिणायां (रानी सुदक्षिणा में) । ययाचे (माँगा) ।

कोशः—स्वहस्तः = 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये' 'इत्यमरः । वंशस्य = 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । तनयम् = 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी' इत्यमरः ।

हिन्दी—(हे पुत्र ! वर माँगो, ऐसा नन्दिनी के कहने पर—) तदा याचकों को मनपसन्द दान देकर सन्तुष्ट करने वाले (आज स्वयं याचक बनकर) तथा अपने भुजबल (हाथों) से 'वीर' उपाधि को प्राप्त करने वाले (आज

स्वयं हाथ जोड़कर) चक्रवर्ती राजा दिलीप ने अपने सूर्यवंश को (अपने नाम पर प्रख्यात करने वाले) अनन्त कीर्तिशाली (विश्वविजयी, अजेय) पुत्र को रानी सुदक्षिणा में उत्पन्न होने का वर मांगा। (स्मरण रहे 'वंशस्य कर्तारम्' अर्थात् इसी पुत्ररत्न (रघु) के नाम पर 'सूर्यवंश' का नाम 'रघुवंश' भी कहा जायगा) ॥६४॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।

दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

सञ्जोविनी—सन्तानेति । पयस्विनी गोः । सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः 'कर्मण्यण्' तस्मै राज्ञे तथेति । कामयत इति कामो वरः । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय, हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्धोपभुङ्क्ष्व । 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः । पिव इति तमादिदेशाज्ञापितवती ।

अन्वयः—सा पयस्विनी सन्तानकामाय राज्ञे तथा इति कामं प्रतिश्रुत्य पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे दुग्ध्वा उपभुङ्क्ष्व इति तम् आदिदेश ।

वाच्यं—तथा पयस्विन्या कामं तथा इति प्रतिश्रुत्य त्वया मदीयं पयः उपभुज्यताम् इति सः आदिदिशे ।

व्याख्या—सा = कामधेनुसुता, पयस्विनी = प्रशस्तदुग्धवती सौरभेयी नन्दिनी गोः, सन्तानकामाय = पुत्रार्थिने, राज्ञे = दिलीपाय, तथा = एवमस्तु, इति कामं = वरम्, प्रतिश्रुत्य = प्रतिज्ञाय (दत्त्वा), पुत्र = हे वत्स !, मदीयं = मामकीनम्, (मदीयस्तननिःसृतं) पयः = दुग्धम्, पत्रपुटे = पत्रनिर्मितपात्रे, दुग्ध्वा = प्रदुह्य, उपभुङ्क्ष्व = पिव, इति = इत्थम्, तं = याचकं दिलीपम्, आदिदेश = आज्ञापयामास ।

व्युत्पत्तिः—सा पयस्विनी (उस प्रशस्त दूध देने वाली नन्दिनी ने) = प्रशस्तं पयः अस्यास्तीति पयस्विनी । सन्तानकामाय = (पुत्र चाहने वाले) = सन्तानं कामयते इति सन्तानकामः, तस्मै । राज्ञे (राजा दिलीप के लिए) । तथेति (जैसा चाहते हो वैसा ही हो ऐसा) । कामं प्रतिश्रुत्य (वरदान देकर) । पुत्र ! मदीयं पयः (हे पुत्र ! मेरा दूध) = मम इदं मदीयम् । पत्रपुटे दुग्ध्वा (पत्तों के दोनों में दुह कर) = पत्राणां पुटः (पात्रं) पत्रपुटः (४० त०) तस्मिन् । उपभुङ्क्ष्व (पी लो) । इति तम् आदिदेश (ऐसी आज्ञा दिलीप को दी) ।

कोशः—सन्तान० = 'सन्तानोऽपगोत्रतोः ।' इत्यने० ।

हिन्दी—उस प्रशस्त दूध देने वाली त्रिशिष्ठ मुनि की सौरभेयी गोमाता नन्दिनी ने कीर्तिमान पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप को "यथेच्छसि तथास्तु" (जैसा चाहते हो वैसा ही हो) ऐसा वरदान देकर कहा—'हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्तों के दोने में स्वयं दुहकर पी लो—इससे तुम्हारा सकल मनोरथ पूरा हो जायेगा' ॥६५॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।

औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

सञ्जी०—वत्सस्येति । हे मातः ! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीता-वशिष्टमित्यर्थः । होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानं, तस्य च शेषम् । होमाव-शिष्टमित्यर्थः । तव, ऊघसि भवमूधस्यं तदेव औधस्यं क्षीरम् । 'शरीरावय-वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव । ऋषेरनुज्ञा-मधिगम्य उपभोक्तुं पातुमिच्छामि ।

अन्वयः—मातः वत्सस्य शेषं होमार्थविधेः च (शेषं) तव औधस्यं रक्षितायाः उर्व्याः षष्ठांशम् इव ऋषेः अनुज्ञाम् अधिगम्य उपभोक्तुम् इच्छामि ।

वाच्य०—मातः उर्व्याः षष्ठांश इव औधस्यं भोक्तुं मया इष्यते ।

व्याख्या—मातः=हे जननि !, वत्सस्य=तर्णकस्य, च, शेषम्=पीतस्याव-शिष्टम्, होमार्थविधेश्च=हवनरूपाऽनुष्ठानविधानस्य च, शेषम्=अवशिष्टम्, तव=भवत्याः, औधस्यम्=ऊघसि भवं दुग्धम्, रक्षितायाः=पालितायाः; उर्व्याः=पृथिव्याः, षष्ठांशमिव=कररूपेण राजप्राप्यं षष्ठभागमिव, ऋषेः=वशिष्टस्य, अनुज्ञाम्=आदेशम्, अधिगम्य=अनुप्राप्य, उपभोक्तुम्=पातुम्, इच्छामि=प्रमिलयामि ।

व्युत्पत्तिः—मातः (हे जननि !) । वत्सस्य (द्विवर्षीयावधि बछड़े के पीने से) । होमार्थविधेश्च शेषं (और होमकार्य से बचे हुए) = होम' एव अर्थः होमार्थः, (कर्मघा०), होमार्थस्य विधिः होमार्थविधिः (ष० त०) तस्य । तव औधस्यं (तुम्हारे धन के दूध को)—ऊघसि भवम् ऊघस्यम् (ष० त०), तदेव औधस्यम् (स्वार्थे अण्, आद्यचो वृद्धिः) तत् औधस्यम् । रक्षि-

तायाः उर्व्याः पष्ठांग इव (राजा से पालित पृथ्वी की उपज से छठा हिस्सा—मालगुजारी की तरह) = पष्ठांश पूरणः पष्ठः, पष्ठश्चासौ अंशश्च पष्ठांशः (कर्मधा०) तं पष्ठांशम् । ऋषेः अनुज्ञां (वसिष्ठ मुनि की आज्ञा को) । अधिगम्य (पा कर) । उपभोक्तुम् इच्छामि (पीना चाहता हूँ) ।

कोशः — वत्सस्य = 'वत्सी तर्णकवर्षौ द्वौ' इत्यमरः । औघस्यं = 'ऊघस्तु क्लीवमापीनम्' इत्यमरः । अंशम् = 'अंशभागी तु वण्टके' इत्यमरः ।

हिन्दी — (राजा दिलीप ने कहा, हे मातः ! मेरे ऊपर पुत्रवत् स्नेहोद्रेक के कारण आपके थन से टपकता हुआ दूध मैं पी लूँ, यह आपका आदेश है पर-) हे जननि ! (मैं चाहता हूँ कि आश्रम में जाने पर ही) द्विवर्षावधि आपके छोटे बछड़े के पीने से तथा गुरु के होमादि कार्यों से वचने पर अपने कुलगुरु वसिष्ठ की आज्ञा पाकर आपका दूध मैं उसी प्रकार ग्रहण करूँ, जिस प्रकार पृथिवी की रक्षा करने वाला राजा (मैं) पृथिवी की उपज का छठा भाग (मालगुजारी के रूप में) ग्रहण करता है (हूँ) ॥६६॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुविज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।

तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

संजीविनी—इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्विमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ।

अन्वयः—इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव च तदन्विता हैमवतात् कुक्षेः अश्रमेण आश्रमं प्रत्याययी ।

वाच्य० — विज्ञापितया वसिष्ठधेन्वा प्रीततया बभूवे, तदन्वितया आश्रमः प्रत्यायये ।

व्याख्या—इत्थम् = अनन (पूर्वोक्तेन) प्रकारेण, क्षितीशेन = पृथिवी-श्वरेण दिलीपेन, विज्ञापिता = निवेदिता, वसिष्ठधेनुः = वसिष्ठस्य नवप्रसूता गोः, प्रीततरा = अतिसन्तुष्टा, बभूव = आसीत्, च = अथ च, तदन्विता = तेन दिलीपेन संयुक्ता, हैमवतात् = हिमालयपर्वतसम्बन्धिनः, कुक्षेः = गुहायाः सकाशात्, अश्रमेण = अनायासेन, आश्रमं = वसिष्ठाश्रमम्, प्रत्याययी = आगता ।
रघु ॥७

व्युत्पत्तिः—इत्थम् (इस प्रकार) । क्षितीशेन (पृथिवीपति राजा दिलीप के—) क्षितेः पृथिव्या, ईशः क्षितीशः (ष० त०) तेन । विज्ञामिता (प्रार्थना करने पर) । वसिष्ठधेनुः (वसिष्ठ की नन्दिनी) = वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठधेनुः (ष० त०) । प्रीततरा (अत्यन्त प्रसन्न) = अत्यधिक प्रीततरा । बभूव (हुई) । च (और) । तदन्विता (उन दिलीप के साथ) = तेन (दिलीपेन) अन्विता तदन्विता । हैमवतात् (हिमालय की) = हिमवतः अयं हैमवतः तस्मात् । कुक्षेः (कन्दरा से) । अश्रमेण (बिना परिश्रम) = न श्रमः अश्रमः (नञ०) तेन । आश्रमं (वसिष्ठाश्रम को) । प्रत्याययी (लौट आयी) ।

हिन्दी—इस प्रकार (आश्रम में ही गुरु की आज्ञा से होमावशेष दुग्ध-पान करूँगा इत्यादि) राजा दिलीप के विवेकपूर्ण निवेदन से वसिष्ठ की वह नन्दिनी धेनु अत्यधिक प्रसन्न होकर दिलीप के साथ हिमालय की उस गुफा से उस दिन अनायासेन आश्रम लौट आयी (नन्दिनी के प्रभाव से क्षण मात्र में दोनों आश्रम पहुँच गये— उस दिन राजा दिलीप को आने के श्रम का भान भी न हो सका) ॥६७॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुनृपाणां गुरवे निवेद्य ।

प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचां पुनरुक्तयेव ॥६८॥

सञ्जीविनी—तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुदिलीपः प्रहर्षचिह्नं मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नेरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं पुनरुक्तया इव वाचा गुरवे निवेद्य (तदनु) प्रियायै शशंस ।

वाच्य०—प्रसन्नेन्दुमुखेन गुरुणा प्रहर्षचिह्नानुमितः प्रसादः शशंसे ।

व्याख्या—प्रसन्नेन्दुमुखः = पूर्णचन्द्रवदनः, नृपाणां = राजा, गुरुः = श्रेष्ठः (राजा दिलीपः), प्रहर्षचिह्नानुमितम् = ईषद्वसितादिभिः अधिकानन्दलक्षण-तर्कितम्, तस्याः = नन्दिन्याः, प्रसादम् = अनुग्रहम्, (दिलीपस्य प्रसन्नाकृत्यैव

ज्ञाततया), पुनरुक्तया = भूयः कथितया, इव = यथा, वाचा = वचनेन, गुरवे = वसिष्ठाय, निवेद्य = सोत्फुल्लं कथयित्वा, (तदनु) प्रियायै = प्रेयस्यै सुदक्षिणायै; शशंस = कथयामास ।

व्युत्पत्तिः—प्रसन्नेन्दुमुखः (पूर्णचन्द्र समान मुखवाले) = प्रसन्नभ्रासो इन्दुः प्रसन्नेन्दुः (कर्मधा०), प्रसन्नेन्दुः इव मुखं यस्य (बहु०) सः । नृपाणां गुरुः (राजाओं में श्रेष्ठ राजा दिलीप ने) = नृन् पान्तीति नृपाः तेषाम् । प्रहर्षचिह्नानुमितं (मुख-प्रसन्नता के लक्षण से ही अनुमित) = प्रहर्षस्य चिह्नानि (लक्षणानि) प्रहर्षचिह्नानि (ष० त०) तैः, प्रहर्षचिह्नैः अनुमितः प्रहर्षचिह्नानुमितः (तृ० त०) तम् । तस्याः (उस नन्दिनी के) । प्रसादम् (वरदान रूप अनुग्रह की) । पुनरुक्तता इव वाचा (दुबारा कही हुई वाणी की तरह) । गुरवे निवेद्य (गुरु वसिष्ठ से नम्रतापूर्वक कह कर) । प्रियायै शशंस (प्यारी सुदक्षिणा से भी कहा) ।

कोशः—प्रसन्नेन्दुः = 'प्रसन्नः स्त्री सुरायां स्यात् स्वच्छसन्तुष्टयोस्त्रिषु' इति मेदिनी । प्रसादं = प्रसादस्तु 'प्रसन्नता' इत्यमरः । प्रहर्षचिह्नानुमितं = 'मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्ष' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामरी ।

हिन्दी—पूर्णचन्द्र के समान प्रसन्न मुखाकृति वाले राजाओं में श्रेष्ठ महाराज दिलीप, जिनकी मुखाकृति से ही नन्दिनी से प्राप्त जिस वरदान का पहले ही गुरु वसिष्ठ को आभास मिल चुका है (ज्ञात हो गया है) । उस नन्दिनी के वरदान रूप अनुग्रह को दिलीप ने अपनी गद्-गद् वाणी से पहले गुरु वसिष्ठ से सविनय कहा तदनु प्यारी सुदक्षिणा से भी कहा ॥६८॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्बत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥

सञ्जीविनी—स इति । अनिन्दितात्मा गहिर्हृत्स्वभावः । सत्सु वत्सलः प्रेमवान् सद्बत्सलः । 'वत्सांसाभ्यां कामवले' इति लक्षप्रत्ययः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं, शुभ्रं मूर्तं परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन् पपौ ।

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सद्बत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं शुभ्रं मूर्तं यशः इव अतितृष्णः सन् पपौ ।

वाच्य०--अनिन्दितात्मना द्वित्सलेन कृताभ्यनुज्ञेन तेन अतितृष्णेन पपे ।

व्याख्या--अनिन्दितात्मा = अगहितबुद्धिः, सद्वत्सलः--सज्जनानुरागी, वसिष्ठेन=तदाख्यगुरुणा, कृताभ्यनुज्ञः=कृतानुमतिः, सः=राजा दिलीपः, वत्स-
हुतावशेषं = वत्सहुतावशिष्टम्, नन्दिनीस्तन्यं = नन्दिनीक्षीरम्, शुभ्रं = श्वेतम्,
मूर्तं = साकारम्, यश इव = कीर्तिमिव, अतितृष्णः = अतिपिपासितः, (सन्)
पपी = पीतवान् ।

व्युत्पत्तिः--अनिन्दितात्मा (प्रशंसित बुद्धिवाले)=न निन्दितः अनिन्दितः
(नन्), अनिन्दितः आत्मा (बुद्धिः) यस्य सः (बहु०) । सद्वत्सलः = (सज्ज-
नानुरागी) = सत्सु (सज्जनेषु) वत्सलः (प्रेमवान्) सद्वत्सलः (स० त०) ।
वसिष्ठेन (वसिष्ठ जी से) । कृताभ्यनुज्ञः = (अनुमति पाये हुए) = कृता
(विहिता) अनुज्ञा (अनुमतिः) यस्य सः (बहु०) । सः (उन राजा दिलीप
ने) । वत्सहुतावशेषं = (बछड़े के पीने से तथा हवन से बचे हुए) = वत्सश्च
हुतश्च वत्सहते (द्वन्द्व०) । वत्सहुनयोः अवशेषम् (अवशिष्टं) वत्सहुतावशेषम्
(ष० त०) । नन्दिनीस्तन्यं (नन्दिनी के दूध को) = स्तने भवं स्तन्यं (दुग्धम्)
नन्दिन्याः स्तन्यं नन्दिनीस्तन्यम् (ष० त०) । शुभ्रं मूर्तं यश इव (पवित्र मूर्ति-
मान् यश के समान) । अतितृष्णः (अत्यन्त प्यासे की तरह) = अति तृष्णा
यस्य (बहु०) सः । पपी (पी लिया) ।

कोशः--अनिन्दितात्मा = 'कृत्स्ना निन्दा च गर्हणे', 'आत्मा यत्नो धृति-
बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्त्म च' इति चामरी । अतितृष्णः--'तृष्णा स्पृहापिपासे
द्वे' इत्यमरः ।

हिन्दी--प्रख्यात सत्स्वभाव वाले सज्जनों के स्नेही राजा दिलीप ने गुरु
वसिष्ठ की अनुमति पाकर बछड़े के पीने से तथा वसिष्ठाश्रम के होमादि से
बचे नन्दिनी के पवित्र तथा साकार यशस्वरूप दूध को तृषित होकर पी लिया
(जिसके लिए तृषित होकर महाराज अर्हतिश नन्दिनी की सेवा कर रहे थे
आज उनकी तृष्णा (इच्छा) पूरी हो गई थी ॥६९॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।

तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥७०॥

सज्जीविनी--प्रातरिति वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तस्य व्रतस्य
गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं

तत्कालोचितमित्यर्थः । 'कालाट्ठम्' इति ठञ्प्रत्ययः । यथा कथंचिद् 'गुण-
वृत्त्याऽपि काले वर्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽ-
नेनेत्ययनं स्वस्ति शुभस्यायनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य । तो
दम्पती । कर्मभूतो । स्वां राजधानीं पुरीं प्रति, प्रस्थापयामास ।

अन्वयः—वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं
प्रयुज्य तो दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास ।

वाच्य०—वशिना वसिष्ठेन तो प्रस्थापयाञ्चक्राते ।

व्याख्या—वशी = जितेन्द्रियः, वसिष्ठः = तदाख्यमुनिः, प्रातः = प्रत्यूषे,
यथोक्तव्रतपारणान्ते = यथोपदिष्टगोसेवारूपव्रतान्तपारणावसाने, प्रास्थानिकं =
यात्राकालिकम्, स्वस्त्ययनं = शुभावहम् आशीर्वादम्, प्रयुज्य = दत्त्वा, तो
दम्पती = उभौ जायापती (सुदक्षिणा-दिलीपो), स्वां = निजाम्, राजधानीं
प्रति = अयोध्यामुद्दिश्य, प्रस्थापयामास = प्रेषयामास ।

व्युत्पत्तिः—वशी (जितेन्द्रिय) = वशः (इन्द्रियाणां स्वाधीनता) अस्यास्तीति
वशी । वसिष्ठः (वसिष्ठ महर्षि ने) । प्रातः (दूसरे दिन, सबेरे) । यथोक्त-
व्रतपारणान्ते (पूर्वकथित गो-सेवारूपी व्रत की पारणा कर चुकने के बाद) =
उक्तम् अनतिक्रम्य यथोक्तम् (अव्ययी०), यथोक्तं च तद् व्रतं यथोक्तव्रतम्
(कर्मधा०), यथोक्तव्रतस्य पारणा (व्रतान्तभोजनम्) यथोक्तव्रतपारणा, यथोक्त-
व्रतपारणायाः अन्तः (अवसानम्) यथोक्तव्रतपारणान्तं (ष० त०) तस्मिन् ।
प्रास्थानिकं (यात्राकालोचित) = प्रस्थाने भवं प्रास्थानिकम् । स्वस्त्ययनं
(आशीर्वाद) = स्वस्ति (कल्याणम्) ईयते अनेनेति स्वस्त्ययनम् । प्रयुज्य
(कर के) तो दम्पती (उन दोनों—भार्या-पति सुदक्षिणा-दिलीप को) =
जाया च पतिश्च जायापती, ताम् । स्वां राजधानीं प्रति (उनकी अपनी राज-
धानी अयोध्या को) = धीयते अस्यामिति धानी, राज्ञः धानी राजधानी (ष०
त०) ताम् । प्रस्थापयामास (भेज दिया) ।

कोशः—व्रत० = 'नियमो व्रतमस्त्री स्यात्' इत्यमरः । प्रास्थानिकं =
'यात्रा व्रज्याभिनिर्माणं प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः । स्वस्त्ययनं = 'स्वस्त्याशीः
क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । दम्पती = 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तो'
इत्यमरः । स्वां = 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मनीये' इत्यमरः ।

हिन्दी—जितेन्द्रिय महर्षि वसिष्ठ ने राजा दिलीप के पूर्वोक्त ('आराध्य सपत्नीकः—१।८१) गोसेवा रूप व्रतान्त में नन्दिनी दुग्ध की पारणा करा चुकने के बाद दूसरे दिन सबेरे अपने हाथों से राजा-रानी उभय को खिला-पिला कर स्वस्त्ययनादि मांगलिक शुभाशीर्वाद देकर उनकी अपनी राजधानी अयोध्या पुरी को प्रस्थान कराया ॥७०॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।

धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपो हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुता-
शोऽग्निः । कर्मण्यण् । तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च
सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य । प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् । 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च'
इत्यव्ययीभावः । ततश्चिच्चः । अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणी-
कृत्य । सङ्निर्मङ्गलैः प्रदक्षिणादिभिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् । प्रतस्थे ।

अन्वयः—नृपः हुतं हुताशम् अनन्तरम् भर्तुः च अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं
च प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ।

व्याख्या—नृपः=राजा दिलीपः (सपत्नीकः), हुतं=तर्पितम्, हुताशम्
=अग्निम्, अनन्तरं=तदनु, भर्तुः=धारकस्य (पालकस्य), च=पुनः
अरुन्धतीं=गुरुपत्नीम्, च=पुनः, सवत्सां=वत्ससहिताम्, धेनुं=नन्दिनीं,
प्रदक्षिणीकृत्य=परिक्रम्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः=प्रदक्षिणादिकल्याण-
कराचरणोन्नततरप्रतापः, (सन्), प्रतस्थे=आश्रमात् प्रचचाल ।

व्युत्पत्तिः—नृपः (राजा दिलीप) । (सपत्नीकः=पत्नीसहित पहले) हुतं
हुताशम् (हवन कुण्ड की) =हुतं (तर्पितम्) अश्नातीति हुताशः, तं हुताशम् ।
अनन्तरं (उसके बाद) =न विद्यते अन्तरं यस्य (बहु०) तत् अनन्तरम्
(क्रियाविशेषण) । भर्तुः (सूर्यवंश के पालक गुरु वसिष्ठ की) । च (उसके
बाद) । अरुन्धतीं (गुरुपत्नी की) । च (उसके बाद) । सवत्सां धेनुं (बछड़े
सहित नन्दिनी गौ की) =वत्सेन सहिता सवत्सा (अव्ययी०), तां सवत्साम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य (परिक्रमा करके) =प्रगतः दक्षिणं प्रदक्षिणम् अप्रदक्षिणं
प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा इति प्रदक्षिणीकृत्य । सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः

(प्रदक्षिणादि मंगलमय कार्यों से बढ़े हुए तेज जैसे) = सन्ति च तानि मङ्गलानि सन्मङ्गलानि, अतिशयेन उग्रः उग्रतरः, सन्मङ्गलैः उग्रतरः प्रभावः यस्य (वहु०) सः । प्रतस्थे (अयोध्या को चल दिये) ।

कोशः—भर्तुः=‘भर्ता पोष्टरि धारके’ इत्यने० । सन्मङ्गलो०=‘सत्ये साधो विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यहिते च सत्’ इति, ‘कल्याणं मङ्गलं शुभम्’ इति चामरी ।

हिन्दी—(कुल-गुरु वसिष्ठ के द्वारा स्वस्त्ययन के उपरान्त—) सपत्नीक राजा दिलीप के सर्वप्रथम गुरु के हवनकुण्डाग्नि की, तदनु सूर्यवंश-पालक गुरु वसिष्ठ की, तदनु गुरुपत्नी माता अरुन्धती की, तत्पश्चात् वरदात्री सवत्सा नन्दिनी गौमाता की सविधि परिक्रमा (‘प्रदक्षिणीकृत्य’ ‘सुदक्षिणा साक्षत-पात्रहस्ता’ २।२१) करने के उपरान्त—इन मांगलिक कृत्यों से और भी बढ़े तेज वाले होते हुए—वसिष्ठाश्रम से अपनी राजधानी अयोध्या को प्रस्थान कर दिया ॥७१॥

पूजनोपरान्त ही प्रदक्षिणा का विधान है और सविधि नैमित्तिक देवपूजा-नुष्ठान के दिन-रात स्त्रीप्रसंग भी निषिद्ध है । इसीलिए ऋतुमती भार्या सुदक्षिणा के चतुर्थ दिन (संभोग दिन) को ध्यान में रखकर उस दिन राजा, दिलीप ने कामधेनु की पूजा-प्रदक्षिणा नहीं की; अतः कामधेनु ने शाप दे दिया जिसका कुपरिणाम राजा को भोगना पड़ा (द्र० प्र० सर्ग श्लो० ७६) ।

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।

ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनैव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

सञ्जी०—श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वेनेनानुद्धातः, पाषाणादिप्रतिघात-रहितः अत एव सुखयतीति सुखः । तेन रथेन । स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव । मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे ध्वनि श्रुतिः । अनुद्धातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

—धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः सः श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्धात-

मनोरथेन इव मार्गं ययौ ।

(मनोरथपक्षे — श्रोत्रानन्दजनकाकर्णनेन) । अनुद्धातसुखेन = पाषाणादिप्रति-
घातरहितानन्देन, रथेन = स्यन्दनेन, स्वेन = आत्मीयेन, पूर्णेन = सफलेन, मनो-
रथेन = कामेन, इव = यथा, मार्गं = पन्थानम्, ययौ = जगाम ।

व्युत्पत्तिः — धर्मपत्नी सहितः । (भार्या सुदक्षिणा के साथ) = धर्मपत्न्या
सहितः धर्मपत्नीसहितः (तृ० त०) । सहिष्णुः सः (सहनशील वे राजा
दिलीप) । श्रोत्राभिरामध्वनिना (कानों के प्रिय लगने वाली ध्वनि से) =
श्रोत्रयोः अभिरामः श्रोत्राभिरामः (ष० त०) श्रोत्राभिरामः ध्वनिः यस्य
सः श्रोत्राभिरामध्वनिः (बंहु०) तेन । अनुद्धातसुखेन रथेन (तपा—ऊबड़-
खावड़ वन-मार्ग में भी पत्थरों से नहीं टकराने वाले सुखद गामी रथ से) =
न उद्धातः अनुद्धातः (नन्०) अनुद्धातेन सुखः अनुद्धातः तेन
अनुद्धातसुखेन (तृ० त०) । स्वेन (अपने) । पूर्णेन (सफल) ।
मनोरथेन इव (अभिलाषास्वरूप रथ के समान रथ से) । मार्गं ययौ (रास्ते
में जा रहे थे) ।

कोशः—ध्वनिः = 'ध्वनिः ध्वानरवस्वनाः' इत्यमरः । रथेन = 'शताङ्ग-
स्यन्दनो रथः' इत्यमरः । सहिष्णुः = 'सहिष्णुः सहनः क्षन्ता तितिक्षुः क्षमितः
क्षमो' इत्यमरः । मनोरथेन = 'वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः ।

हिन्दी—(वसिष्ठाश्रम से अयोध्या जा रहे—) धर्मपत्नी रानी सुदक्षिणा के
सहित गुरु वसिष्ठोक्त पुत्रेष्टि गोसेवादि गुरुतर कष्टप्रद व्रतानुष्ठान सहन करने
में समर्थ राजा दिलीप को, उस समय कानों को मधुर लगने वाली रणचक्र-
ध्वनि तथा ऊबड़-खावड़ वन-पथ में भी पत्थरों की ठोकर न लगने से सुखद,
गमनशील वह रथ ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों वे अपने सफल मनोरथ
रूपी रथ पर ही चढ़े हुए अवलेशेन मार्ग तय कर रहे हों ॥७२॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकशिताः । (उसके
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्भनोदयं नाश्रुः) सवत्सां घेनुं (बछड़े
सञ्जीवा की) = वत्सेन सहितां सेवत्सा (अव्ययी०), तां सवत्साम् ।
दर्शितोत्सुक्यं (परिक्रमा करके) = प्रगतः दक्षिणं प्रदक्षिणम् अप्रदक्षिणं
दक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा इति प्रदक्षिणोक्त्य । सम्मङ्गलोदप्रतरप्रभावः